

गांधी देख रहा है!

"अस्पृश्यता ने हिन्दू-धर्म को उसी प्रकार विपरीत बना दिया है, जिस प्रकार अहर की एक बून्द लोटेभर दूध को।"

"जो राष्ट्र मदिरा-पान के व्यसन का शिकार हो गया है, उसका सर्वनाश निश्चित है। इतिहास में इसके प्रमाण मौजूद हैं कि इस दुर्व्यसन में फँसेनेवाले राष्ट्र नष्ट हो गये हैं।"

"अपनी मातृभाषा की अपेक्षा अंग्रेजी के प्रति हमारे विशेष अनुराग ने सुशिक्षित और राजनैतिक वृत्ति के वर्गों के तथा आम जनता के बीच एक गहरी खाई खोद दी है। अंग्रेजी के कारण भारत की भाषाएँ शोहीन हो गई हैं। जबतक हम इस अनर्थ का निराकरण नहीं करेंगे, जबतक जनता की बुद्धि जकड़ी हुई रहेगी।"

वियोगी हरि

गांधी देख रहा है !

वियोगी हरि

कुटीर प्रकाशन
माडेल टाउन, दिल्ली

प्रकाशक :

कुटीर प्रकाशन,
भाङेल टाउन, दिल्ली

तीसरा संस्करण

मूल्य : २.७५

मुद्रक :

उद्योगशाला प्रेस,
दिल्ली-६

प्रस्तावना

बहुत दिनों के बाद श्रीविद्योगी हरि ने एक अच्छी चिन्तनात्मक और प्रेरक पुस्तक दी है, जिसका नाम है 'गांधी देख रहा है !' संकलन है यह चंद छोटे-छोटे लेखों का, जो पिछले बरसों में लिखे गये हैं। ध्यान सबमें इसी बात पर खींचा गया है—सीधे तौर पर और व्यंग्यात्मक शैली में भी, कि गांधीजी के विचारों और रचनात्मक कार्यों की उपेक्षा की गई है, और उल्टी दिशा में हम जा रहे हैं। पर गांधी को धोखा नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह हमें बराबर देख रहा है। लेखक के शब्दों में, "मत समझो कि गांधी आज तुम्हारे सामने मौजूद नहीं है, वह अन्तरिक्ष से बराबर झाँक रहा है। सस्ते-सस्ते स्मारकों से तुम उसे फुसला नहीं सकते। क्योंकि उसके स्मारक ऐसे मसाले से तैयार किये गये हैं, जिसकी गन्ध से भी वह दूर रहता था। उसके सपनों से सब-कुछ उलटा-उलटा ही, उसकी यादगार बनाये रखने के लिए, ढेर-का-ढेर इकट्ठा किया गया है।"

जब गांधीजी जीवित थे तब कई लोग उनके पास जाकर उनके कार्य की कदर और सराहना करते थे। महात्माजी की स्तुति करना किसको अच्छा न लगेगा? ऐसी स्तुति सुनने से तंग आकर वे कहते थे, "मेरी कदर करने का अच्छा तरीका एक ही है कि आप मेरा अनुसरण करें! जो मैं कर रहा हूँ उसीको आगे बढ़ाते आपको कौन-सी चीज रोकती है?" इसी चीज को विद्योगी हरिजी ने एक लेख में समझाया है कि पूजा करना आसान तरीका है, अनुसरण करने के कर्तव्य से बच जाने का भी वह एक सस्ता तरीका है। हमारे देश में भक्त लोग महात्माओं को 'अवतारी पुरुष' कहते हैं। और तुरन्त कहने लगते हैं "ऐसा श्याम, वैराग्य, सेवा और लगन तो महात्मा लोग ही बता सकते हैं।

उनकी योग्यता हममें कहाँसे आयेगी ? हम तो अल्पात्मा हैं। उनकी पूजा करके, उनका माहात्म्य गाकर, और उनका नाम रटकर हम अपने-को पावन करने की कोशिश करते हैं।" ऐसे सस्ते धंधे को भक्ति का रूप देना अपने आपको और समाज को धोखा देना है।

और कैसी खूबी है कि ऐसे भक्त लोग अपने पूज्य महात्माओं के जीवन में से अपूर्णता के और दोषों के उदाहरण देकर अपना बचाव करने को तत्पर रहते हैं! अपने हरएक दोष के बचाव में किसी-न-किसी संत के जीवन-प्रसंग का उदाहरण मिल ही जाता है। लेकिन जिन्होंने सब दोषों का अपने में सम्मेलन बना रखा है ऐसे भक्तों का बचाव कैसे हो सकता है ?

जिस जमाने में महात्माजी पैदा हुए उस जमाने के कर्त्तव्य से बच जाने का एकही तरीका है अवतारवाद को आगे करना और कलियुग की दुहाई देना। एक ब्राह्मण को हमने यह कहते सुना था — "मैं अपने पाप को क्यों छुपाऊँ ? व्यासजी ने लिखा ही है कि कलियुग में ब्राह्मण लोग पापाचार में प्रवृत्त होंगे। अगर हमने पाप नहीं किया तो व्यासजी का वचन झूठ साबित होगा। जब पाप का भार बढ़ेगा तभी तो भगवान् अवतार लेते हैं। अगर पाप न बढ़ा तो अवतार के आने में देरी होगी। हम तो हमारे ही जमाने में अवतार के प्रगट होने की राह देख रहे हैं।"

हम बड़े लोगों की जयन्ती और पुण्यतिथि मनाते हैं ताकि सालभर के बाक़ी के दिनों में हम आराम से उन्हें भूल सकें।

देश में कितनी आत्म-वंचना बढ़ रही है इसे देखकर परेशान हुए वियोगी हरिजी अपनी लिखी वक्तोक्ति चलाते हैं। लेकिन समाज इसका भी आदी बन गया है। हमने अगर समाज की हँसी उड़ाई तो वह भी हँसने लगता है और निर्लज्जता का या बेपरवाही का कवच धारण करता है। समाज की सेवा करना अपने वश की बात है समाज को

सुधारना समाज स्वयं अंतर्मुख होकर सोचे तब कुछ होगा। अथवा भगवान् कठोरता से समाज को सबक सिखायेगा तो कुछ होगा।

स्वभावतः लेखक ने अस्पृश्यता-निवारण की आवश्यकता पर कई जगह काफ़ी कहा है। गांधीजी ने हिन्दू-धर्म की और हिन्दू-संस्कृति की जो विविध सेवाएँ की हैं, उनमें सबसे महत्त्व की सेवा है अस्पृश्यता-निवारण की। इस सेवा का महत्त्व केवल भारत के ही मनीषी नहीं जानते, समस्त मानव-जाति के श्रेष्ठ मनीषियों ने गांधीजी की सेवा का महत्त्व पहचाना है, और वे मान्य करते हैं कि हिन्दू-धर्म की इस महती सेवा के द्वारा गांधीजी ने मानव-जाति की आँखें खोल दी हैं।

आश्चर्य की बात है कि इतने प्रभावशाली धर्म-प्रचार के बाद भी भारत में अस्पृश्यता आज भी जीवित रूप में अनेक जगह विद्यमान है। चन्द लोग मानते हैं कि भारत के संविधान में सर्वानुमति से हमने जाहिर किया कि, 'अस्पृश्यता एक गुनाह है।' राष्ट्रीयता का और मानवता का गुनाह होने से वह क़ानून के द्वारा दंडनीय है। इतना करने के बाद अब करने का क्या रहा ? चन्द लोग हरिजनों की उन्नति के लिए थोड़ा दान देकर मानते हैं कि हमारे कर्तव्य का हमने पूरा पालन किया। क्या वे मानते हैं कि राष्ट्र का संविधान शुद्ध होने से राष्ट्र भी तत्काल शुद्ध हो जाता है ? हमारा संविधान निष्पाप, निष्कलंक हुआ यह तो बड़ा लाभ हुआ ही है। लेकिन अस्पृश्यता हम भारतीयों के हृदय में से निकल जानी चाहिए, तभी गांधीजी को संतोष होगा और परमात्मा के कृपा-प्रसाद के हम अधिकारी बनेंगे। इस कार्य में वियोगी हरिजी ने जो सेवा की है, वह सचमुच हिन्दू-धर्म की और हिन्दू-समाज की सेवा है। राष्ट्र-सेवा तो है ही।

जिस निष्ठा से हरिजी अस्पृश्यता-निवारण का कार्य कर रहे हैं, उसी निष्ठा से जब लाखों काम करने को तैयार होंगे, तभी लोगों के हृदय में स्थान पाई हुई अस्पृश्यता दूर हो सकेगी। राजनीतिक लोग

बोट पाने के लिए गाँवों में जाते हैं सही, लेकिन अस्पृश्यता दूर करने का अपना कर्तव्य उस समय उनको याद रहना है या नहीं यह वक्ता का विषय है।

मद्यपान के दोष की तरफ भी लेखक का ध्यान गया है। देश की वर्बादी के बताने के लिए गांधीजी ने तशाबन्दी के बारे में जो जोर दिया है, उसका कुछ लेखों में उल्लेख किया गया है। वह दोष राष्ट्र में अस्पृश्यता से भी अधिक फैला हुआ है। अस्पृश्यता-निवारण के लिए भारत का धर्म-हृदय तैयार हुआ है। मगर मद्यपान के उत्थापन के लिए देश के नेता भी विधित हो रहे जा रहे हैं। पुराने लोग कहते हैं कि अग्नि का सामना अगर आपमें नहीं होता, तो कम-से-कम कालहरण करके उसे दूर धकेल दी 'अग्निभयं कालहरणम्।' लेकिन हमारे देश में नेता तो शुभ प्रवृत्ति को भी आगे धकेल देते हैं ! मान लें कि जो लोगों को शराब पीने से, बाद में देखा जायेगा। ऐसी जिदिलता के दिनों में मद्य-विरोधी प्रचार अधिक स्वागतार्ह है। कीत नहीं जानते कि शराब के कारण मनुष्य-जाति की वर्बादी होती है। जसमें भी मरीचों और हरि-जनों की वर्बादी सबसे अधिक होती है और मनुष्य-जाति की दुर्दशा का तो अन्तपार ही नहीं। मद्यपान के विरोध के लिए सरकार का ही भिन्न करने ने कुछ खास होनेवाला नहीं है। उसके लिए अधिक-आयुक्ति बहुत आवश्यक है।

अब लेखक की काव्यात्मक जैसी के बारे में। कवि होन हुए भी वियोगी हरिजी कविता पर खूबकर एक दिन कहने लगे 'म कवि नहीं हूँ, न कभी कवि था।' लोग परमान होकर मोक्ष लेगे, तो क्या आज तक जिसकी हमने सराहना की वह कविता न थी ? वे किसकी बात माने, अपने हृदय की या अपने माने हुए कवि की ? उन्होंने सचमुच कविता करना छोड़ दिया और अपने विचारों की अमल में लाने के लिए सेवामय जीवन पगन्द किया। सेवा करने गये वेना 'उपभुवनवादा'

उनके सिर पर सवार हुआ । फूलों को हटाकर क्यारियों में उपयुक्तता-वाद को बो दिया ।

मेवा करने-कारते चिन्तन बढ़ा । जीवन का रहस्य वे खोजने लगे । धीरे-धीरे वे तत्वज्ञानी बनने लगे । लेकिन मेवा ने ही उनको बचाया । ताद्विक अथवा तार्किक तत्वज्ञ नहीं बनने दिया । चिन्तन करते-करते जीवन के सब पहलुओं पर उनकी दृष्टि पहुँची । जीवन का रहस्य अनेक रूप से प्रगट होने लगा । उस रहस्यको छन्दोमयी वाणी में बाँध देने की वियोगी हरिजी तैयार नहीं हुए । समाजोपयोगी गद्य का उन्हीने आश्रय लिया । उनको शायद पता नहीं था कि कविता देवी न तो कल्पना-शक्ति की दाम्नी है, न छन्दोमयी वाणी के सहारे बिना बट जी नहीं सकती ।

जीवन का रहस्य न्यायशान्धियों के पंचावयवी वाक्यों में बँध नहीं जाता । यह तो साध्यमयी भाषा में ही व्यक्त हो सकता है । गाँव जिसे गऊ में लिखते लगे उसीमें काव्य प्रगट हुआ । जीवन का रहस्य जैसा पाया वैसा प्रगट करने की उन्हीने कोशिश की; लेकिन उपयुक्ततावादी शैली में कल्पना ने प्रवेश किया । जीवन-रहस्य भी कहने लगा 'वही है मेरी स्वाभाविक भाषा ।' जिग कविता पर हरिजी रुठ गये थे वही अब प्रौढ़ बनकर गद्य में भी अपनी कल्पनामयी शैली लेकर प्रगट हुई है ।

गांधीजी से प्रेरणा पाकर सेवापरायण और जीवनोपामक बने हुए वियोगी हरिजी का मैं अभिनन्दन करता हूँ । अब देखना है कि किस मूढ़ से वे कहते हैं कि, मैं कवि नहीं हूँ । मगलतन काल में दुनिया के मसीही कहते आये हैं कि गहरे जीवन की स्वाभाविक भाषा तर्कप्रधान नहीं हो सकती । कविता के द्वारा ही जीवन-रहस्य प्रगट हो सकता है । फिर उनकी शैली पद्यात्मक हो या गद्यात्मक ।

रमनिधि, दिल्ली

काका कालेलकर

गणसंघ दिवस

२३ जनवरी, १९६६

सूची

अभी-अभी पढ़ा दीवार पर	१
जी नहीं लग रहा था	४
कहीं आपही अलग न जा पड़ें !	७
मानवता जहाँ सुख-शान्ति से बसेगी	१०
कमल और गुलाब की प्यालियों में	१२
पुराना रास्ता और नया	१४
और, मुक्ति भी किस कारा से !	१८
खरीदते-बेचते ही देखा था	२१
आत्म-प्रवंचना यह कबतक ?	२४
धोखा दिया किसने ?	२८
दीमक और धुन	३२
है कोई रास्ता ?	३४
स्वप्न नभ-चुंबन का	३६
वह जीतकर ही लौटा है	३८
‘सुरसरी बहै गज भारी’	४०
हाय री आसक्ति !	४२
‘पूजन’ ही या ‘अनुसरण’ भी ?	४४
सावधान जड़ पूजा से !	५०
संकल्प यदि बेबुनियाद हो ?	५३
उत्तर चाहता है यह मौलिक प्रश्न	५५
जन्म-शक्ती आ रही है	५७
जयन्तियाँ कैसे मनायें ?	६१
गांधी का कीर्ति-ध्वज	६६

साधना	६८
बापा का पावन स्मरण	७०
क्यों और कैसे स्तुति करायें ?	७२
संगम विचार और क्रिया का	७४
‘पञ्चा तस्स न वड्ढति’	७६
‘जो घर जाले आपना’	८१
‘बेचहि वेद घरम दुहि लेहीं’	८५
‘आये थे हरि-भजन को’	८८
ये प्रतिमाएँ और ये चित्र !	९३
‘दाम-बल’ का स्थान	९८
एक साथ दो घोड़ों पर	१०१
वह ‘झोंपड़ी’ ही चाहिए	१०५
कहीं संतुलन न खो बैठें	१०८
ये नारे और ये वाद	१११
विचार-मंथन	११४
प्रायश्चित्त	११८
महाविष यह कैसे नष्ट हो ?	१२५
लीक इतनी गहरी हो गई है कि—	१२८
दूसरा कोई मार्ग नहीं	१३१
आरम्भ ‘अन्त्योदय’ से	१३४
दृष्टि समग्र क्यों ?	१३६
दृष्टि एकाग्र हो	१३९
सेवा निष्काम	१४२
प्रश्न ये कोई नये नहीं	१४४

गांधी
देख
रहा
है !

अमी-अमी पढ़ा दीवार पर

प्रकाश बहुत कम था—धुंधला-धुंधला-सा। सम्नाटा छा रहा था चारों ही ओर। खड़ा था वह हक्का-बक्का-सा। आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था उस काली दीवार की ओर, और डर गया था। पैर लड़-खड़ा रहे थे उसके। लगता था उसे, जैसे घरती काँप रही हो। अपने-आपमें जैसे डूबता जा रहा था, और भूली-बिसरी बातों को याद करता और बार-बार भूलता जाता था।

थोड़ी ही दूरी पर रंग-बिरंगी बिजली की बत्तियाँ जगमगा रही थीं, पताकाएँ फहरा रही थीं, और रंगभरे मादक गीत भी बीच-बीच में सुनाई दे जाते थे। कोई उत्सव मनाया जा रहा था शायद उस ओर।

पर उसका ध्यान उधर, उस ओर, नहीं जा रहा था। उसकी उंगली तो दीवार के एक किनारे से दूसरे किनारे तक बार-बार दौड़ रही थी। उसके चेहरे पर की रेखाएँ मानो बोल रही थीं कि वह दीवार पर लिखा जो कुछ पढ़ रहा है उसे ज़ोर से पढ़ना चाहता है, और यह भी कि उसे सुनने को वहाँ कोई आ पहुँचे। वह आतंकित था और उत्सुक भी।

मैं चुपचाप उसके पीछे खड़ा था। पर उसने देखा नहीं। वह थोड़ा पीछे की ओर घूमा, और मुझे देखकर ज़ोर से चिल्ला उठा, 'सुनो, सुनो, जो मैं पढ़ रहा हूँ वह इस काली दीवार पर लिखा हुआ है।'

पर मुझे तो वह दीवार सारी काली ही दीख रही थी। न जाने वह आदमी उसपर लिखा क्या पढ़ रहा है !

'अच्छा, ज़रा ज़ोर से पढ़ो, मैं भी सुनूँ।'

और वह कुछ डरा हुआ-सा, कुछ अचम्भे में पढ़ा-सा उन सतरों को, जो केवल उसे ही दिखाई देती थीं, ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने लगा—

“निकम्मा है तुम्हारा सारा तत्वज्ञान और तुम्हारी वे पोथियाँ, कि जिन्होंने तुम्हारी आँखों पर काला परदा डाल रखा है, और तुम मानने लगे हो कि तुम उच्च हो और दूसरा तुमसे नीच ।”

“तुमने दुनिया के रहस्यों को जानने का जतन किया, आसमान के तारों को पहचाना और पाताल में छिपे रत्नों को खोजा, पर इन्सान को तुम आज तक न पहचान सके !”

“बेकार है तुम्हारी उपासना और साधना, जो मानव को न पूजकर तुम इधर-उधर परमेश्वर को टटोलने, खोजने और पूजने में लगे हो ।”

“व्यर्थ है तुम्हारी अद्वैत-भावना, जबकि तुम्हारे ही जैसा मानव, बल्कि तुमसे कुछ बढ़कर, तुम्हारे कुएँ पर सबके साथ पानी नहीं भर सकता, और जिसे समाज में समानता का उपभोग नहीं करने दिया जाता ।”

“धिक ! ‘नेह नानास्ति किंचन’ का तुम्हारा यह डिडिम-घोष आज कुछ भी अर्थ नहीं रखता ।”

“अपने आपको गहराई में उतरकर ज़रा देखो कि तुम क्या हो, किस अर्थ में ऊँचे हो ? क्या दूसरों को अपमानित करके । अछूतपन को पैदा करके क्या ?

“लज्जा नहीं आती तुम्हें यह काला धब्बा अपने माथे पर लगाये हुए । इस कलंक को तुम अपना शृंगार मान बैठे हो ! !”

“कोई अर्थ नहीं रखता तुम्हारा यह दावा कि तुम सबका उदय, सबका उत्थान करना चाहते हो । तिरस्कृत मानवता की उपेक्षा करके तुम किसीका उदय नहीं साध सकते ।”

“तुम्हारे सारे निश्चय और सारी योजनाएँ शब्दाडम्बर ही रहेंगी, जबतक कि मानव को तुम मानव के रूप में नहीं पहचानोगे । सो जितनी जल्दी हो इस महापाप के दलदल से बाहर निकल आओ ।”

“तुम अपने आपको स्वाधीन मानते हो ? पर असल में तो तुम पराधीन हो, और गुलाम हो पुरानों सड़ी-गली रुढ़ियों के। तुम्हारी स्वाधीनता का कुछ भी मूल्य नहीं, जबतक कि तुमने उच्च-नीच-विवार के जाल में अपने-आपको फँसा रखा है।”

“मत समझो कि गांधी आज तुम्हारे सामने मौजूद नहीं है। वह अन्तरिक्ष से बराबर भाँक रहा है। सस्ते-सस्ते स्मारकों से तुम उसकी आत्मा को फुसला नहीं सकते। समय रहते तुमने दूर हवी, मत-छुओ की दुर्भावना को यदि दूर नहीं किया, तो गांधी का तथा पूर्व के ऋषियों का कोप बहुत बुरी तरह तुम्हारे ऊपर-बरसेगा, और उन अभिशापों से तुम परित्राण नहीं पा सकोगे।”

“याद रखो अपनी उज्ज्वल कार्य-परम्परा को। हटा दो यह काला पड़ा जो तुमने उसपर डाल रखा है।”

और, वह काँपता हुआ घुरी तरेह चिल्ला उठा, “क्या तुम्हें बिजली के अक्षरों में लिखी हुई धिक्कारनेवाली ये पंक्तियाँ नहीं दीख रही हैं ? परमेश्वर का अनुग्रह है कि मैंने इन सतर्कों को पढ़ा और तुम्हें सुनाया। फैला दो इन पंक्तियों का मर्म राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर तक भाग जाओ, जल्दी करो। समय रहते इन पंक्तियों को यदि घर-घर न पहुँचाया तो तुम्हारे सारे उत्सव और उल्लास धूल में मिल जायेंगे यह भी कराल काल की इस काली दीवार पर लिखा मैंने पढ़ा है।”

जी नहीं लग रहा था

जी नहीं लग रहा था उसका । बुरी तरह ऊब गया था वह । आखिर करता क्या उस खण्डहर में योंही पड़े-पड़े । कई बरसों में उसने जो-जो बनाया और खड़ा किया था, वह सारा ही उसके देखते-देखते धन-बना हो गया, ढह गया । अब अकेला ही खड़ा था वहाँ । अन्तर उसका रह-रहकर बोल रहा था, आसमान जल्दी ही उसे अपना मेहमान बनाले ।

एक-एक पत्थर, एक-एक ईंट, नंगे सर पर ढो-ढोकर वह लाया था । मिट्टी को पसीने से साना था । जो खड़ा किया था वह कोई आलीशान महल नहीं था । उसकी कुटिया की खिड़कियों से छन-छनकर उजेला पैठता और शुद्ध हवा आती थी । सबके भूले की बात वहाँ बैठकर वह सोचा करता था । दीवारों पर ऐसे-ऐसे नक्शे बनाये थे कि बड़े-बड़े आयोजकों की अक्ल चकरा गई । उस छप्पर के नीचे सैकड़ों और हजारों को उसने बुलाया था बड़े प्रेम से, और उनको बताया था सत्य की डगर पर चलने का भेद । डर से काँपते कितने ही वहाँ पहुँचे और निडर हो गये । और नफ़रत लेकर जो आये, उन्होंने प्रेम का अमृत दिलों में भर लिया । उसके सामने बनावट न टिक सकी । वहाँ एक प्रकृति को ही हँसते-हँसते सबने देखा । भूला हुआ अपनापन याद आ गया वहाँ । सादगी और सच्चाई से अपने-आप आगन्तुकों का नाता जुड़ गया । दाँतों तले अंगुली दबाली बड़े-बड़े समझनेवालों ने कि उसके निकाले कच्चे धागे पर से न जाने क्या-क्या वैभव उतर रहा है । चलचित्र-सा कुछ दीख पड़ा । नंगे अस्थि-पंजरों का तन ढँकता जा रहा

था, धीरे-धीरे। धँसी हुई आँखों में से तेज फूट पड़ा, और वे हड्डियों के ढाँचे दौड़ पड़े जिह्म हो। सामने जो जबरदस्त ताकत खड़ी थी, उसके पैर उखड़ गये। हैरान थी कि वह बार भी करे तो किस पर?

उसे देखने और उसका मंत्र ग्रहण करने के लिए आतुर जन-समूह चारों ओर से उमड़ पड़ा। बहुत सारे उसके साथ हो लिये, और उन्होंने अपने आपको बार-बार सराहा समर्पण की उस मंगल वेला में।

संघर्ष हुआ। पर ऐसा, कि जो उससे पहले न देखा और न सुना गया था। उसने प्यार का संकेत किया और करोड़ों की बधि रखनेवाले खुशी-खुशी चले गये समन्दर के उस पार।

मुक्ति का दिन जैसे बिना बुलाये ही आंगन में आ उतरा। धरती ने रिहाई पाकर सुख की साँस ली। लहरें नाँच उठीं। पक्षी हुलास के गीत गाने लगे। आकाश प्रफुल्लित था। मुक्ति का महोत्सव था न वह। मगर वह बन्धन काटनेवाला उसमें शरीक नहीं हुआ।

दूसरे-ही दिन सारा नया-सा दीखने लगा। बहुतों ने अपना भेष बदल लिया बाहर का ही नहीं, अपने भीतर का भी। सच्चाई घुन्घली पड़ गई। नेकी को धक्का लगा। साथियों तक ने सादगी से पीठ फेर ली। प्रेम की ताकत को भुंला दिया। साहस ने साथ छोड़ दिया। श्रम को नीचा देखना पड़ा। बनावट तनकर खड़ी हो गई। मदकता झूम उठी। और, अब अपनी ही मिट्टी जैसे अजनबी हो गई।

उसने देखा कि उसका छप्पर तोड़ा और गिराया जा रहा है। देखा कि उसने जो कुछ सिखाया था, वह सारा ही भुलाया जा रहा है। जो-जो उसने रचा था वह मिटाया जा रहा है। विश्वास पर संदेह ने क्राबू पा लिया। एक-दूसरे को पहचान भी नहीं रहे हैं वे। अपनी बोली-बानी को भी भूल गये हैं। निर्लज्जता को उन्होंने छाती से चिपटा लिया है। अपनी धरती की मिट्टी को वे घृणा की दृष्टि से देखने लगे हैं। त्याग और तप पर हँसते हैं वे। अपनी ही प्रकृति उनको याद

जो नहीं लग रहा था

नहीं आ रही है। अकाल-पीड़ितों की तरह जहाँ-तहाँ हाथ फैला रहे हैं वे।

मगर, साथ ही, गिरे-पड़े छप्पर के सामने खड़े उस शिल्पी की जय भी वे चिल्ला-चिल्लाकर बोल रहे हैं ! उसका नाम ले-ले कर लाभ का सौदा कर रहे हैं वे।

जो उसका यह सब देखकर ऊब गया। क्या करेगा वह वहाँ और अधिक ठहरकर ? जिस मिट्टी को पसीने से साना था, एक साँझ को उसे अपना रक्त भी उसने दे दिया। जिसने उसे धरती पर उतारा था उसीका नाम लेकर वह चल दिया। उसकी 'अलविदा' की आवाज शायद ही बहरे कानों तक पहुँची हो।

उसके पवित्र रक्त को अब रंग-रंग के फूलों से ढक दिया और कलापूर्वक सजा दिया गया। याद को क्योंकि ताज़ा जो रखना था। उसके रक्त को किसी ने दूर से और किसी ने नज़दीक से जाकर देखा, पर उसे कितनों ने सही-सही पहचाना ?

हज़ारों दिये जलाये गये कि उनकी रोशनी में उसकी तस्वीर को देखा जा सके, मगर अपने-अपने चश्मे से।

वह जो कुछ लिख गया था, उसमें से वे ही कुछ सतर्क पढ़ी गईं, जो अपने अनुकूल बैठें, अर्थ भी उनका अलग-अलग निकाला गया।

उसका स्मारक ऐसे मसाले से तैयार किया गया, जिसकी गन्ध से भी वह दूर भागता था। उसके सपनों से सब-कुछ उलटा-उलटा ही, उसकी यादगार बनाये रखने के लिए, ढेर-का-ढेर इकट्ठा किया गया।

इतिहास ने फिर एक बार स्पष्ट किया—

‘आश्चर्य कैसा, और शिकायत क्यों ? मेरे पृष्ठों पर सदा से यही तो लिखा गया है; उसे आँख खोलकर क्यों नहीं पढ़ा जाता ?’

कहीं आपही अलग न जा पड़ें !

हिम-शिखर-सा दीख रहा था दूर से वह । पर असल में वहाँ कोई शिखर नहीं था । वह तो एक कृत्रिम टीला था, शिखर के नमूने का । खूब ऊँचा और बर्फ के जैसा श्वेत, शुभ्र । सूर्य की सुनहरी किरणें उस-पर चमचमा रही थीं । सीढ़ियाँ वहाँ घुमावदार थीं, जिनके दोनों ओर रंग-विरंगे फूलों के गमले सजे हुए थे । भ्रम हो जाता था कि कहीं प्रकृति देवी ने ही तो स्वयं उन सुन्दर पुष्पों को नहीं बिखेर दिया है । वहाँ, ऊपर जो चन्द्र लोग बैठे या खड़े थे, उनकी वेष-भूषा अजीब-सी थी, हालाँकि वे खूब जाने-पहचाने थे उन सबों के, जो नीचे एकत्र होकर कोई बड़ा उत्सव मना रहे थे ।

सामने सागर गरज रहा था अपनी छाती पर बड़ी-बड़ी नावों को गंद की तरह उछालता हुआ । शिखर पर खड़े व्यक्ति अपने हाथों को आगे की ओर फैलाकर जैसे मूक भाषा में कह रहे थे कि क्या ही अच्छा हो कि वे नावें उनको सागर के सुदूर तट पर पहुँचा दें, जहाँ रमने को उनका मन उड़ रहा था ।

किन्तु वह जगह, जहाँ वे खड़े थे, कुछ कम रमणीक नहीं थी ।

नीचे का विशाल जन-समूह रुच नहीं रहा था उन ऊपर वालों को । उनकी दृष्टि में वह संक्रामक कीटाणुओं से भरा हुआ था । हवा वहाँ की जैसे दुर्गन्ध फैक रही थी । ऊलजलूल कोलाहल उनके कानों के परदे फाड़ रहा था । न उसमें कोई स्वर था, न कोई ताल ।

जन-समूह ने ऊँचाई की ओर हज़ारों-लाखों हाथ बढ़ाये बड़े प्यार से । किन्तु व्यर्थ । उत्तर में शिखरस्थों ने तो उपेक्षा का ही भाव व्यक्त

कहीं आपही अलग न जा पड़ें !

किया। लगा, जैसे आत्मीयता का आदान-प्रदान उनको याद नहीं आ रहा, और वे घृणापूर्वक हँस पड़े। जिस भाषा में वे कुछ बड़बड़ाये, वह जन-समूह के लिए अज्ञात थी। और, जिस महज बोली में वे बहुसंख्यक अन्तर के बोल व्यक्त कर रहे थे, उसे उन परे-परे रहनेवालों ने प्रयत्न-पूर्वक भुला दिया था। उनके हाथों ओर उनके चेहरों के अजीब-अजीब संकेतों से श्रुति ही कुछ जात हुआ :

“तुम लोगों को भेटने हम क्यों नीचे उतरे ? तुम्हारे पास हमारे अनुरूप ऐसा है ही क्या ?

तुम ऐसी भाषा बोलते हो, जिसमें न कुछ मिठास है, न कोई लोच, और वह कभी की मुर्दा हो चुकी है;

तुम ऐसे वस्त्र पहनते हो, जो भड़े होने हैं, जिनसे पूरा अंग भी नहीं ढँकता.

तुम्हारे घर-मकान सारे ही धड़ने हैं, रहन-सहन तो बिल्कुल अंगली; तुम जमीन पर बैठकर हाथ न लाते हो.

तुम्हारे पास न तो साहित्य है, न कोई कला;

तुम्हारे जीवन समाज में संगीत भी तो नहीं, और न कोई मन्दर बाद्य है;

तुम्हारे जीवन में न परिष्कार है, न कोई सरकार;

तुम लोग हर तरह से दरिद्र हो। फिर तुमने हम कैसे मिलें ? तुम्हारे बीच में आकर क्यों और कैसे बैठें ?

सिवा दुर्गन्ध के तुम्हारे पास और है ही क्या ?”

उनके बड़बड़ाने और संकेतों का यह भी अर्थ निकला---

“कि, तुम्हारा अतीत तो रद्द था ही, वर्तमान तुम्हारा लज्जास्पद है, और भविष्य भी निराश्रय;

कि, मानव के आकार में तुम लोग पूरे पशु हो। कौन सम्भव मनुष्य तुम्हारे साथ रहना चाहेंगा ?

कि, तुम्हारा यह देश, तुम्हारा यह समाज रहने के योग्य नहीं।”

फिर भी बहुसंख्यकों को उनकी सांकेतिक भाषा का एक भी शब्द अप्रिय नहीं लगा, क्योंकि अपने ही जैसा समझकर वे प्यार करना ही जानते थे, और ऐसी को तो और भी ज्यादा, जो उनसे हटकर परे रहना चाहते थे ।

आर, लावों-करोड़ों हाथ फैले हुए थे कृत्रिम मिखर पर खड़े व्यक्तियों को छान्नी से लगाने के लिए, जो अंधेरे में दूर और बहुत दूर भटक गये थे । जन-समूह का विश्वास था —

“कि, वे किसी-न-किसी दिन उस मिट्टी को अवश्य साथे पर चढ़ावेंगे जिसे खूने में वे परहेज करते हैं ;

कि, उस भाषा पर उनका अवश्य ध्यान जायेगा कि जिगने सदा मेल-जोल का ही पाठ पढ़ाया है ;

कि, उन वस्त्रों को फेंक देना वे अपनी भूल समझेंगे, कि जिनका साथ जलवायु ने हमेशा दिया ;

कि, उस साहित्य को उन्हें हृदयंगम करना होगा, कि जो उनके मानस का निर्मल दर्पण युग-युग तक रहा ;

कि, उस कला का वे आश्चर्य मानेंगे, कि जिमने उनकी सत्य, शिव और सुन्दर में मिलाया ।

कि, आँखों पर से उस चष्मे को वे उतार देंगे, जो उनको दरिद्रता और व्यथता के ही दृश्य आज दिखा रहा है ।

अवश्य ही कृत्रिम मिखर में उतरकर वे यथार्थ भूमि पर पैर रखेंगे । जीवन-उद्यान को भले ही वे बाहर में ला-लाकर रंग-बिरंगे फूलों से मजायें, किन्तु अपने पारिजात पुष्पों की वे उपेक्षा नहीं करेंगे, उनको उखाड़कर फेंक नहीं देंगे ।

हड़ विश्वास है कि वे निपट अल्पसंख्यक अवश्य एक दिन आग्वं खोलेंगे, और ‘महत्त्वशीर्षी’ को अस्पृश्य मानकर उसमें दूर रहने की भूल नहीं करेंगे । यदि ऐसा किया, तो वे स्वयं ही अस्पृश्य बन जायेंगे ।

कहीं आपही अलग न जा पड़ें !

मानवता जहाँ सुख-शान्ति से बसेगी

दो या तीन दिन से उसी ऊँची चट्टान पर बैठा है वह, और प्रतीक्षा कर रहा है कि कब यह बाढ़ का वेग कम हो। एक-दो बार पानी कुछ उतरा भी, पर फिर चढ़ आया। इधर-उधर से बाँस इकट्ठे कर उनको रस्सी से बाँध-बूँध लिया कि उनके सहारे वह पार हो जायगा। पर हिम्मत न हुई बाढ़ के भयंकर वेग को देखकर। कभी आशा तो कभी निराशा की रस्सियों पर अवर झूल रहा है। घनघोर घटा के बीच आशा कभी-कभी बिजली की तरह कौंध जाती है। सब-कुछ प्रतिकूल दीखता है, फिर भी किनारे पर की चट्टान को उसने छोड़ा नहीं।

देखते-देखते क्या-क्या नहीं बहा ले गई वह भीषण बाढ़, और उसका हर कोई मनसूबा भी साथ-साथ बहता चला गया। और, परले पार का भी सब-कुछ अज्ञात ही है। यह कोई अन्दर का विराग ही रह-रह-कर धक्का दे रहा है कि उस अज्ञात में वह जा बैठे।

और, लो यह क्या हुआ ! बाढ़ एकदम उतर गई। तले के कंकड़ तक साफ़-साफ़ दीखने लगे। फिर भी पैर उसके पार जाने को उठे नहीं। चट्टान से और भी चिपट गया वह। आँखों में से आशा की सुनहरी किरणें फूट पड़ीं। चेहरा उत्फुल्ल हो उठा। यह कैसे, और क्या हुआ !

ठीक उसी तरह—

सामने हमारे प्रतिकूल काल खड़ा है, और अट्टहास कर रहा है गांधी-युग की पूर्वयोजनाओं को देख-देखकर। मुयका दिखाकर कह रहा है, तुम्हारी यह एक-एक सड़ी-गली चीज साइन्स की तुला पर कभी ठहर नहीं सकती।

धमका रहा है कि, सचाई और सादगी को बुनियाद पर खड़ी यह भीड़ी रचना तुम्हारे देखते-देखते गिरा दी जायगी ।

मजाक उड़ा रहा है हमारी संस्कृति का और हमारी बची-खुची सम्पदा का—यों कि 'तुम्हारा न तो कोई साहित्य है, न कोई कला, और तुम्हें पहनने और बोलने-तक का शऊर नहीं ।'

लेकिन साथ ही, लुभाता भी है चमकीली वेश-भूषा और अन-पहचानी 'कल्चर' का रूप-रंग दिखा-दिखाकर ।

आँखों के सामने ही हमारी रचना को वह ढहाता जा रहा है, और उसे इस टूटी-फूटी हालत में हम बचा लेना चाहते हैं कुछ ऐसे साधनों-अनुदानों के सहारे, जो स्वयं भी उसी विध्वंसक प्रवाह के तट पर खड़े हैं ।

भले ही इसे 'क्लीवता' कहा जाये, अन्दर-अन्दर से मन उड़ रहा है उस पार वहाँ जा बैठने को, जहाँ हमारा कुछ भी जाना-पहचाना नहीं है ।

कर्मनिष्ठ पुरुष तो देवतात्मा हिमालय के आह्वान की भी उपेक्षा कर दिया करते हैं, तब हम क्यों किसी अज्ञात, या ज्ञात ही सही, स्थान को अपना आश्रय बनाने जायें ?

हमारे लिए तो श्रद्धा की वह चट्टान ही सब कुछ है । हमारा विश्वास है कि हमें डराने, धमकाने और लुमानेवाली भी यह मायाविनी बाढ़ उतर जायगी, और तब उस पार जा बसने का मोह नहीं रहेगा । इधर इस पार के गिरे-पड़े भूखण्ड पर गांधी के नक्शे का कुछ-न-कुछ हम बना ही लेंगे, जहाँ सचाई, सादगी, समता और श्रमनिष्ठा की पुष्टा छत के नीचे मानवता सदा-सदा सुख और शान्ति से बसेगी और स्वयं अपना विकास करती रहेगी ।

मानवता जहाँ सुख-शान्ति से बसेगी

कमल और गुलाब की प्यालियों में

दो परिवार थे । एक-दूसरे के पड़ोसी । हरेक अपने-आपको सम-भक्ता था दूसरे से अच्छा और ऊँचा । तटस्थ समझ नहीं पा रहा था कि असल में उनमें से कौन तो अच्छा है या ऊँचा, और कौन बुरा है या नीचा ।

एक जमाना हुआ, तब बात ऐसी नहीं थी । दोनों ही पड़ोसी तब एक-दूसरे को अच्छा और बराबरी का मानते थे । दोनों परिवारों पर तब प्यार का कंचन बरसता था । न तो तब उनमें बड़े बनने का लोभ था, और न अपनी समृद्धि का गर्व । सुख सहज-सहज था उनका । प्रति-स्पर्धा उनमें भेद नहीं डाल पाई थी ।

दीवार पारदर्शी थी दोनों घरों के बीच की । जोड़ना ही जाना था उसने, फोड़ना कभी नहीं । किन्तु कालान्तर में वही दीवार, जो मोम की थी, वज्र बन उठी ।

कैसे, क्या हुआ कि दोनों घरों पर अभिशाप की घटा घिर आई । नित्य का उल्लास घूमिल हो आया । रंग फीका पड़ गया ।

न जाने कहाँ से दोनों गृहस्वामी बीतलें खरीद लाये तेजाब से भरी और उसकी एक-एक बूँद वे गले के नीचे उतारने लगे ।

जलन हो आई आँखों में, मुँह में और उनके अन्तर में । खुद का एक-एक रोम जल रहा था, और चिनगारियाँ फेंक रहे थे वे एक-दूसरे के घर पर । उस झाल से उनके अंतर का रस-स्रोत सूख गया, विश्वास के पौधे झुलस गये ।

अनेक धातु-पात्रों के अलावा दोनों परिवारों में कुछ ऐसी भी प्यालियाँ थीं, जो बड़ी अनमोल थीं।

एक घर की प्यालियाँ तो ऐसी थीं, जो कमल-दलों से बनी थीं, और उनके अन्दर और बाहर पराग-कण झलकते थे।

और, दूसरे घर में प्यालियाँ थीं गुलाब की पंखड़ियों की। डर लगता था कि झूते ही कहीं मैली न हो जायें, मुर्झा न जायें।

किसी-न-किसी वरदान ने सिरजा और भेजा था उन नन्हीं-नन्हीं प्यारी प्यालियों को उन दोनों घरों में, इसलिए कि अमृत-सा दूध उनमें से छलका करे।

किन्तु घटित हुआ कुछ और ही। दोनों उन्मत्त गृह-स्वामियों ने उन सलोनी प्यालियों में भी तेजाब उँडेल दिया, इसलिए कि कमल और गुलाब अपनी सहज कोमलता को फुलसा दें।

पूछा तो जवाब मिला कि प्यालियाँ उनकी अपनी हैं, अतः उनमें चाहे जो उँडेलने का अधिकार है उनका।

बाद में भेद खुला कि निर्वैर वातावरण में कूदने-नाचनेवाले अबोध बालक ही प्यालियाँ बन आये थे, जिनमें कि तेजाब उँडेला गया। ऐसा निर्दय, नापाक खेल खेलने से उन दोनों घरों को आखिर क्या मिला होगा।

काली कहानी यह यहीं तक सीमित नहीं रही। यह तो मात्र आरंभ था, जो अत्यंत भयंकर हुआ। बाद को तो उसने बड़े लम्बे डग भरे। द्वेष का जाल दूर-दूर तक फँका। ऊँच-नीच के भेद को वेहद बढ़ा दिया उसने। समाज सारा ही वर्गों और रंगों में बँट गया, और वे आपस में टकराने लगे। अस्पृश्यता-जैसा महा पाप भी इसी द्वेष-भावना से पनपा और फूला और फला।

कैसी अशुभ घड़ी थी वह, जब कमल और गुलाब की प्यालियों में भी नादानी से तेजाब उँडेल दिया गया था !

पुराना रास्ता और नया

रास्ता वह पुराना था, बहुत पुराना, जिसपर सैकड़ों-हजारों बरसों से यात्रियों का आना-जाना रहा था। उसे तय करनेवाले कोई-कोई यात्री बुरी तरह थके-मांदे दीखते थे। उन्होंने लम्बी-लम्बी डगें भरकर यात्रा पूरी की थी, या मान लिया था कि वह पूरी हो गई। उनके चेहरों पर हर्ष की रेखाएँ उभरी नहीं दीख रही थीं। तथापि मानों कोई बाध्य कर रहा था कि वे अपना आत्मसंतोष प्रतिक्षण आँखों के द्वार से प्रचारित करते रहें।

और, कुछ यात्रियों के पैर पुरानो गहरी लीकों में घँस-घँस गये थे, और कहीं-कहीं पर नोकीले रोड़ों और कंकड़ों ने उनके सूजे पैरों को छेद डाला था।

आश्चर्य कि उन यात्रियों ने दूसरा रास्ता नहीं पकड़ा, जो उसके नज़दीक ही था। पुराना रास्ता छोड़ना और गहरी निकम्मी लीकों पर से हटना क्योंकि उनके विचार में, अगर उसे विचार कहा जाये—पतन था, पाप था। मन तड़फड़ा रहा था नया रास्ता जा पकड़ने को, मगर पैर उधर मुड़ने को तैयार नहीं हो रहे थे; रग-रग में जड़ता पैठ चुकी थी।

एक दिन कुछ नये ही राहगीर उसी राह से गुज़र रहे थे। सोचा कि रास्ता वह एक नया नक्शा सामने रखकर इस ढब से दुरुस्त किया जाये कि उसका रूप ही बदल जाये। और यह प्रयत्न किया गया। पर खास कुछ बदला नहीं। कहीं-कहीं तो और भी ऊबड़-खाबड़-सा हो गया। जहाँ भी वे कुदाल मारते, लीक को सही करने का यत्न करते,

ड़ेरो हटाते, उनको ऐसा लगता कि किसी अदृष्ट के वे कोप-भाजन बन रहे हैं। विचित्र मनोदशा हों आई उन नये राहगीरों की भी। तो भी वे रह-रहकर सोचने लगते कि उन्होंने मार्ग-मुधार का काम शुरू तो कर ही दिया।

क्रान्ति का मनमाना अर्थ लगा लेनेवालों की मनोदशा और होती ही क्या? आवश्यकता वहाँ जड़-मूल से शोधने की थी। ऐसा नहीं किया गया। दिमाग को सड़े-गले चौखटे में से निकालने का साहस नहीं हुआ।

बहते-बहते एक स्थान पर जाकर प्रवाह रुक जाता है, सभी प्रकार का प्रवाह,—धर्म का, विज्ञान का और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का।

जो शोधक आगे का, और आगे का शुभ-से-शुभ दृश्य अपने बन्धन-मुक्त ज्ञान-विज्ञान की मुक्त दृष्टि से देख रहे थे, उनकी प्रगति ने पुराने रास्ते को छोड़ दिया, उसे जोड़ने-जाड़ने का प्रयत्न नहीं किया, और नये-से-नये राजमार्ग बना लिये।

तहाँ एक तरफ उस युग के प्रमाणों को पेश किया जाता रहा, जो कभी का गुजर चुका था। प्रमाणों की दासता से किसीभी प्रकार मुक्ति नहीं मिल पा रही थी।

लेकिन किसी-किसीने फिरभी अपना दिमाग ढौड़ाया। प्रमाणों को अपने साँचों में ढालने का स्रम किया। हिम्मत नहीं हुई कि प्रमाणों और उदाहरणों से वे अपना पिण्ड छुड़ालें। पुराने चित्रों पर अजीब-अजीब रंग भरने और पोतने का प्रयास किया गया। उनके आन्तरिक आशय को वे समझ नहीं पा रहे थे, और उसे ग्रहण करने या छोड़ देने का उनमें साहस नहीं था। तब चित्रों का रूपान्तर कर देना ही उनको जँचा।

प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था। जर्मनी-वासियों की आँखों के सामने

चूँकि वे अपने आपको ईसाई-धर्मावलम्बी मानते थे ईसा का चित्र अंकित था। किन्तु एक नये ही रूप में, कहना चाहिए कि, बिल्कुल विपरीत रूप में। उनकी कल्पना का चित्र यह था —

“यदि नज़ारथ का ईसा, जो शत्रुओं से प्रेम करने का उपदेश देता था, आज फिर सशरीर हमारे बीच आ सकता, जर्मनी को छोड़कर वह और कहीं जन्म लेना पसन्द न करता, तो तुम क्या सोचते हो, वह कहाँ होता? क्या तुम समझते हो कि वह किसी चबूतरे पर खड़े होकर कह रहा होता, ‘ओ पापी जर्मनी-वासियो! अपने शत्रुओं से प्रेम करो?’ बिल्कुल नहीं। इसके बजाय वह सीधा मोरचे पर दिखाई पड़ता शास्त्र-धारियों की सबसे अगली पंक्ति में, जो प्रचण्ड उग्रता के साथ युद्ध कर रहे थे। हाँ, वह वहीं होता और लोह-लोहान हाथों को और मारकाट करने के शस्त्रों को आशीर्वाद देता, और शायद खुद एक न्याय की तलवार उठा लेता और जर्मनी के शत्रुओं को प्रतिज्ञात भूमि की सीमाओं से ठीक उसी प्रकार दूर और दूर खदेड़ता जाता, जैसे उसने एक बार व्यापारियों और सूदखोरों को धर्म-मन्दिर से खदेड़ा था।”

किस चतुराई से महात्मा ईसा का यह चित्र खींचा गया है! इस दो हजार बरस पुराने जीर्ण-शीर्ण पट पर अंकित चित्र में कैसे-कैसे चट-कीले रंग भर दिये गये हैं। सूरत ही बदल गई है गिरि-प्रवचन करनेवाले ईसा की। उसी रूप में भूतल पर फिर से उतरने और वही प्रेम-प्रीति का राग अलापने की हिम्मत नज़ारथ का ईसा आज कर नहीं सकता। अगर करेगा, तो उसी क्षण फिर वह सूली पर लटका दिया जायेगा। मगर उसे त्यागा भी नहीं जा सकता। प्रमाणों और उदाहरणों से छुटकारा आखिर कैसे पाया जाय!

गांधी से भी चाहे जैसा मनमाना काम मौके-बेमौके लिया जा रहा है। उसका चित्र चुनावों में एक पक्ष का जहाँ समर्थन करता है, तहाँ दूसरे पक्ष को तोड़ देने की सलाह देता है।

कहा जाता है, या मान लिया जाता है कि यदि कम्युन महापुरुष आज जीवित होता तो वह वैसी ही सलाह देता और वैसाही करता, जैसा हम सोचते हैं, और जैसा स्वयं करना चाहते हैं। और शरीर छोड़ने के पहले यह कहना वह भूल गया कि, “मेरे अनुयायियो ! मेरे विविध स्मारकों को अजर-अमर रखने के लिए तुम लोग अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करना, क्योंकि मैं तुम्हारे ही सुख और तुम्हारे ही हित के लिए ज़िन्दा रहा और उसीके लिए यह बहुमूल्य देह भी छोड़ रहा हूँ।”

गरज यह कि महापुरुषों के उदाहरणों और प्रमाणों से मात्र इतना ही काम लिया जाये कि जो रास्ता निकम्मा हो चुका है, उसपर हम पैरों को न घसीटते रहें, जो कार्यक्रम निष्प्राण हो चुका है उसे तो हम दफना ही दें। निरन्तर आगे बढ़ते रहें, जो मंजिलें तय हो चुकी हैं, उनके रोड़ों और कंकड़ों को न गिनते रहें। थीगरे-पर-थीगरे टाँकने से यह कहीं बेहतर है कि उस चीथड़े को तन पर से उतारकर फेंक दिया जाये। सारेही रचनात्मक कार्यों को इसी दृष्टि से देखना होगा कि उनके द्वारा कुछ नया जीवन-निर्माण हो रहा है या नहीं, याकि हम वही पुरानी लकीर पीटते चले जा रहे हैं।

और, मुक्ति भी किस कारा से !

कैमा मनहूस दिन था वह कि सूझ नहीं रहा था कुछ भी । अँधेरा-सा था कुछ-कुछ । पर अँधेरा वह साँझ का नहीं था । लगता था, जैसे सर्वत्र धुन्ध छा गई हो । पर धूल तो सारी ही धरती पर जमा थी । लगता था कि धुआँ परत-परत-परत जमा रहा, और बिखेर रहा हो । पर धुआँ वह उठा कहाँ से था ?

दृष्टि को तो उलझा ही दिया उस अजीब धुन्ध ने, मस्तिष्क भी अधर-ही-अधर तैर रहा था । क्रिया उसकी जैसे गुरुत्वाकर्षण को छोड़ चुकी थी ।

और, उस वातावरण में वह खड़ा था अकेला ही, अपने आपमें डूबता-उतराता हुआ । एक हाथ था उसका सिकुड़े माथे पर, और दूसरे हाथ की अँगुली थी सख्त ठोड़ी पर । पैर उसके जैसे बर्फ में धँस गये थे । आँखें फाड़-फाड़कर देखता, पर चन्द आड़ी-टेड़ी लकीरों के अलावा कुछ भी नहीं देख रहा था । चेहरे पर कभी तो दड़ता की, और कभी शिथिलता की रेखाएँ उभर-उभर आती थीं । यह नहीं कि मस्तिष्क में खालीपन महसूस हो रहा हो । न जाने रुई-जैसे अनगिनत रेशे दिमाग के अन्दर प्रवेश कर गये हों, और वे हल्के-हल्के उलझते जा रहे थे ।

धुन्ध के उस पार, जैसे बहुत भीने परदे के पीछे, लाल-लाल लपटों पर यकायक उसकी दृष्टि जा दौड़ी । अन्तर चौक उठा उस एकाकी का वज्र की जैसी गड़गड़ाहट से । उधर उस क्षितिज की ओर पैर बढ़ाने

का जी हुआ। पर सख्त बर्फ में से कौन खींच निकाले गहरे घोंसे पैरों को ? चेहरा उद्वेग में डूब गया उसका। लपटों की तेज गर्मी पास आ पहुँची। मगर बर्फ पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मन हुआ कि ठण्डे छींटे शायद झुलसाने से उसे बचालें। कुछ ठण्डी-ठण्डी बूँदें सर पर गिरीं भी। किन्तु भाप बनकर उसी क्षण उड़ गईं। ताप और भी तपाने लगा। और, उसका संदिग्ध निर्णय तब पर पड़ी बूँद में परिणत हो गया।

महसूस हुआ उसे कि सामने बवंडर उठ रहा है, और वह उस स्थान को छोड़दे। मगर छोड़ेगा नहीं। छोड़ भी नहीं सकता। कुछ भी हाँ, वह कायर नहीं बनेगा। तूफान भी यह कैसा कि उसके आगे ये सारे दृक्ष वैसे-के-वैसे अचल खड़े हैं। एक पत्ता भी नहीं हिल रहा उनका। पर उसके मस्तिष्क में का जैसे सब-कुछ उखड़ता जा रहा है। क्या उसका एक तन्तु भी नहीं छोड़ेगा, यह अभीब तूफान कि जिसे पकड़कर किसीभी निर्णय पर तो पहुँचा जा सके।

लगा कि उसके सामने समुद्र की लहरें आकाश को छूने जा रही हैं। पर वह घबराया नहीं। भयभीत होने की शक्ति भी उसमें नहीं रही थी। लहरों से लिपट जाने का मन हुआ। पर कैसे ? भग्न विचारों और जर्जर मनसूबों को जैसे थपेड़े-पर-थपेड़े लग रहे थे। मगर उसके कपड़ों की कोर भी नहीं भीगी थी। मस्तिष्क के सारे ही तन्तु, उसे लगा कि, गीले हो गये हैं। किसीभी निर्णय का ताना-बाना वे कैसे चुन पायेंगे तब ?

भूली हुई शक्ति को झकझोरकर देखा कि उसी घुन्घ में—आग की लपटों, बवंडर के चक्करों और समुद्र की लहरों पर बिजली ने रह-रहकर जैसे कुछ लिखा, और फिर मिटा दिया हो। किसीभी निर्णय पर पहुँचने का मार्ग, उसे लगा कि, कौंध जानेवाली वे प्रज्वलित पंक्तियाँ बिना पृष्ठ ही दिखा रही हैं।

और, मुक्ति भी किस कारा से !

धुन्ध कुछ-कुछ साफ होने लगी । ध्रुवतारा दृष्टि पर चढ़ आया ।
सामने जो एक खाली ही झूला डोल रहा था, उसकी रस्सियाँ टूट गईं ।
बर्फ पिघल गई । पैरों में गर्मी आई । कदम आगे बढ़े । इस्पात-जैसी
मुट्ठियाँ बाँधकर उसने सामने, और फिर पीछे देखा । मस्तिष्क सक्रिय
हो उठा । अनिश्चय और अनिर्णय की अपनी कारा से वह अब विमुक्त
था । आँखें फाड़कर देखा उसने आकाश की ओर, और दृष्टि अटक गई
किन्हीं अग्नि-अक्षरों पर ।

खरीदते-बेचते ही देखा था

एक वृक्ष था। धरती ने अपने अति उदार स्तनों से स्वरस पिला-पिलाकर उसका एक-एक अंग पुष्ट किया, और वह दिन-दिन उभरने और बढ़ने लगा। हवा ने लोरियाँ गा-गाकर अपने हिंडोले पर उसे झुलाया। सूरज की सुनहरी किरणों ने उसे यथेष्ट जीवन दिया। प्रकृति ने सहज-सहज उसपर स्नेह डेढ़ेला।

वह फूला, और फूला न समाया। पुलकित हो झूम उठा। फिर फलों से लद गया और झुक गया, और अपनी कुलीनता प्रकट की।

एक दिन वृक्ष का वैभव देखकर किसीने धरती से पूछा, “तुमने जो अपनी कोख में उस वृक्ष को रखा था, और वृक्ष का रस पिलाया था, क्या उस सबका लेखा तुमने तैयार नहीं किया? यह कैसा कि तुमने आज तक उस मुफ्तखोर वृक्ष को बाँकायदा ‘बिल’ बनाकर नहीं दिया!”

हवा से भी पूछा, “लोरियाँ गा-गाकर, हिंडोले पर झूलाने का पारिश्रमिक तुमने उस अल्हड़ वृक्ष से क्यों नहीं माँगा?”

और, पूछनेवाले को अचरज था कि सूरज की ये किरणें भी अब तक क्यों खामोश रहीं।

उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि उन तीनों ने बाज़ार-दर से एक-एक पाई उस वृक्ष से क्यों नहीं वसूल की।

और, उस भोली माँ ने शिशु पर अमित स्नेह बरसाया, यों कि नौ मास उसे गर्भ में रखा, फिर प्रसव की विषम पीड़ा सहकर उसे जना, अपने स्तनों से अमृत पिलाया, खुद गीले पर पड़ी रही, और उसे सूखे पर सुलाया, और उसका मल-मूत्र बरसों साँफ़ किया। खुद परहेज

खरीदते-बेचते ही देखा था

से रही कि उसका विकारी दूध पीकर कहीं वह बीमार न पड़ जाये । क्या-क्या नहीं किया उसके लिए ? अच्छी-मली सीख दी और हर किसी अनिष्ट से उसे बचाया ।

उस माँ से भी पूछा गया कि वह कितनी भोली है, जो उसने अपने स्तनों से भरनेवाले दूध का कभी हिसाब नहीं रखा, और न उन दिनों की मेहनत की कोई सूची ही तैयार की, जब उसने बच्चे का मल-मूत्र साफ़ किया था । प्यारों से भरी अच्छी-अच्छी नसीहतें देने के भी दाम बेटे से उसने वसूल नहीं किये । वह बनाती तो काफी लम्बा बिल बन सकता था । उसे वह गणित नहीं आता था । खर्चना ही जाना था उसने, जमा करना कभी सीखा ही नहीं था ।

ऐसे ही, एक सामान्य व्यक्ति था, जो अपने आपको न तो शिक्षक कहलाना चाहता था, न उपदेशक और न प्रचारक ही । उसका अपना कोई संगठन नहीं था, अपनी कोई संस्था नहीं थी । रोज़ थोड़ा-थोड़ा समय निकालकर अपने पड़ोसियों के बीच वह जा बैठता और उनके सुख-दुःख की बात पूछ लेता था । फिर रोज़ इन्हीं कुछ बातों को वह दोहराता, जैसे :—

“सचाई यह कितनी मीठी होती है । सच सोचना, और सच बोलना और सच ही बर्तना कितना अच्छा होता है । पड़ोसी के दुःख को अपना ही दुःख मानना और अपने खुद के सुख में उसे हिस्सेदार बना लेना, यह कितना भला लगता है । जो वचन, जो बर्ताव अपने आपको बुरा लगे, वैसा दूसरों को क्यों बोला जाये और उनके साथ वैसा क्यों बर्ता जाये । इन्सान अपने ही जैसे इन्सान से नफ़रत क्यों करे, जबकि वह अपने आपको दूसरों से प्यार करवाना चाहता है । हरेक को अपना धर्म उतना ही प्यारा है, जितना कि हमको अपना खुद का धर्म । सदा बचा जाये टेढ़े रास्ते से, और पकड़ा जाये सचाई और नेकी और प्यार का सीधा

रास्ता, साफ़ रास्ता । अपना खुद का उतनाही कुछ माना जाये, जितना कि अपने तन और मन को साफ़-सुथरा और स्वस्थ रखने के लिए जरूरी हो, और उसे भगवान् का प्रसाद समझकर ग्रहण किया जाये । दूसरों की चीज़ पर हम लालच-भरी दृष्टि न डालें । नज़र हमेशा अपने अन्दर की बुराइयों पर रखें, औरों की बुराइयों पर नहीं । डरें किसीसे नहीं, डरें तो सिर्फ़ बुराई और पाप से । हमेशा ध्यान रखें कि सबके भले में ही अपने खुद का भला है ।”

वह ऐसी-ऐसी बातें पड़ोसियों के बीच में और कभी-कभी गाँव की चौपाल पर बैठकर सुनाया करता, और अपनी गृहस्थी की गाड़ी को मेहनत और ईमानदारी से चलाता । उसकी हर बात ध्यान और प्रेम से सुनी जाती थी । असर भी पड़ोसियों पर गहरा पड़ता था ।

वह धूम-धूमकर पूछनेवाला वहाँ भी पहुँचा, और हैरान था देखकर कि वह आदमी क्यों अपने मूल्यवान् विचारों को व्यर्थ जाया कर रहा है; जिनको उसकी वाणी ने इतना ज्यादा फ़ायदा पहुँचाया, उसके पूरे दाम हिसाब जोड़कर वह उनसे क्यों नहीं वसूल कर रहा !

पूछनेवाला वह बाज़ार में रोका बैठा-उठा करता था, और एक लेन-देन और मोल-तोल की ही भाषा जानता था । यही कारण था कि धरती, हवा और सूरज की दानशीलता उसे जैची नहीं ।

वह अर्थ लगा नहीं पा रहा था कि किसी मानव-शिशु को बरसों बिना मोल का दूध क्यों पिलायेगा ? उसने तो डिब्बे का दूध ही बच्चों के लिए खरीदते देखा था । पता नहीं था उसे कि माँ कोई नौकरानी का भी गन्दा काम कर सकती है, और वह भी बिना वेतन के ।

इसी तरह उसने प्रेरक विचारों और प्रवचनों को खरीदते-बेचते ही देखा था प्रचार के बाज़ार में । वह नहीं जानता था कि सबाई और प्रेम-प्रीति को बेचा नहीं जा सकता, और न खरीदा ही जा सकता है ।

खरीदते-बेचते ही देखा था

आत्म-प्रवचना यह कबतक ?

एक वृक्ष था। उसे देखा गया था उगते हुए, बढ़ते हुए और फूलते-फलते हुए। पहाड़ी के ऊपर, पथरीली ज़मीन पर वह उगा, बढ़ा, फैला और फूला-फला। उसकी जड़ों को, और उसकी डालों और पत्तियों को ख़ूराक पहुँचायी मेह की नन्हों-नन्हों बूँदों ने, हवा की साँसों ने और सूरज की किरणों ने।

प्रकृति के पालने में बालपन, जोवन और बुढ़ापा बिताया उसने। किसी और का वह कभी मोहताज नहीं हुआ।

अनमंगि ही उसने भर-भर पाया। और दिया भी खूब। छाँह दी, फूल और फल दिये और अपने हरे-भरे अंग भी याचकों को दिये।

अन्दर का रस तिल-तिल सूख जाने पर भी वह खड़ा रहा। पर आखिर कितने दिन ? उकठकर एक दिन चुपचाप देह अपना गिरा दिया उस बूढ़े वृक्ष ने।

और, ऐसाभी एक वृक्ष देखा, जिसे बाग के माली ने बड़े जतन से रोपा था, ध्यान से सींचा था और जिसके फूलों को सजाया था और फलों की मिठास की सराहना की थी। बचपन में और जोवन में उसने एक सुकुमारता और सुन्दरता को ही जाना-पहचाना था।

पर उसका भी रंग-रूप अब उतार पर था। तन ढल चुका था। तोभी उसे ख़ूराक पहुँचाई गई, इस नीयतसे कि उकठकर गिर न जाये। उसके साथ बाग के माली का मोह जो जुड़ गया था। स्वार्थ जो था। दरख्त के खड़े रहने पर ही वह अपना खुद का स्थान सुरक्षित समझता था। कितना भोला था वह! सीधी लम्बी लकड़ियों से बाँधकर ठूँठ को

खड़ा रखा था उसने ! लहलही पत्तियोंवाली डालें भी चिपका दी थीं उसके सूखे तने पर ।

फिर, ऐसेही, एक मानव-देह सुन्दर कान्तिमय और पूर्ण स्वस्थ देखा गया, जिसके रोम-रोम से फूट रहा था तेजस् और पुरुषार्थ । युक्त आहार-विहार ने उसके हृदय को शुद्ध रक्त पहुँचाया और निर्णयात्मक विचार उसके मस्तिष्क को पुष्ट करते रहे । सुना कि एक विशेष उद्देश की खातिर प्राणों ने उस देह-घट में अपना वास बनाया था । उसका भरपूर उपयोग आत्मा ने किया, जबतक कि वह आवश्यक था ।

अब वह दिन आ पहुँचा, जब हृदय को रक्त पहुँचना रह-रहकर रुकने लगा । धमनियों ने जवाब दे दिया । रस सूख गया । चेतना लुप्त हो चली । किन्तु सन्तोष था उस घट को, कि निर्दिष्ट उद्देश को बहुत-कुछ उसने पूरा कर लिया ।

किन्तु गिरते हुए देह के इर्द-गिर्द एक अजीब-सा स्वांग खड़ा किया गया । सुझ्याँ बार-बार उसमें छेदी जाने लगीं । बाहर से हवा पम्प की गई श्वास की नलियों में । और भी न जाने उस धड़ी क्या-क्या नहीं किया गया ।

गिरते हुए देह का आसरा पकड़कर जिन्होंने परार्थ की ओट में नाम कमाया था और सुन्दर धाम भी खड़े किये थे, वे अपना अस्तित्व अबभी उसके नाम पर कायम रखने के प्रयत्न में थे । सचमुच वे क्या इतना भी नहीं जानते होंगे कि लाख जतन करने पर भी उस मुर्दे के अन्दर पुनः प्राणों को नहीं फूँका जा सकता ?

आँसू पोंछते हुए इर्द-गिर्द जो खड़े थे उन्होंने फैसला किया कि वे ऐसा तेल या ऐसा रोगन तैयार करेंगे, जिससे कि वह शव चिरन्तनकाल तक सुरक्षित रखा रहे । और वे उसका ऐसा स्मारक भी बनायेंगे, जो कितने ही युगों को पार कर जायेगा । अद्भुत थी निष्प्राण देह पर उनकी आसक्ति और श्रद्धा-भक्ति !

आत्म-प्रवर्चना यह कबतक ?

जो गति उस वृक्ष की, और जो उस देह की हुई वही होकर रहगी
किसीभी संस्था की और किसीभी संघ या संघटन की ।

हर किसीका अपना नियत समय होता है । वह उपजना है, बढ़ना
है, फूलता है, झड़ता है और गिर जाता है ।

एक उद्देश होता है । उसे पूरा करने के लिए कुछ व्ययित आते हैं ।
कोई तो अपने प्रयत्न में सफल हो आते हैं, और कोई विफल । उद्देश
कभी-कभी अपने आपही, बिना किसी माधुन-मध्यदा के, पूरा हो जाता
है । और कभी, संस्था और संघ खड़े करने पर भी, वह विफल ही
रहता है ।

बहुधा खुद का अस्तित्व कायम रखने के लिए जैसे रमणीय दृष्ट के
प्रति माली अपनी आनक्ति को नहीं छोड़ना चाहता, मनप्राण देह को
घेरकर जैसे जड़ भवन प्रदर्शित करने के लिए उनके प्रयत्न
चारों ओर खड़े हो जाते हैं, ठीक वैसाही हास्यास्पद व्यवहार
संघठनों और संस्थाओं के प्रति भी देखने में आता है । उद्योग और
श्रम से वहाँ जी चुराया जाता है । पुरुषार्थ पंगु हो जाता है । और
विचारों का स्रोत विष्कुल वन्द । श्रान्ति का नाम लेकर अमल में
विश्रान्ति को अपना लिया जाता है । अर्थ-साधन लक्ष्य बन जाता है ।
तब वहाँ देखने-सुनने को मिलेगा क्या ? कुछ तो मिलेगा ही,
जैसे—

ऊँचे-ऊँचे भवन वहाँ खड़े होंगे, पर जहाँ नियम में भाड़ लगानेवाला
भी न होगा;

अदालत में जायदाद को लेकर वहाँ मुकदमे खड़े जाने होंगे;

विधान और नियमों पर वाद-विवाद होना होगा;

निर्जीव कार्यक्रमों के फटे पन्ने इधर-उधर बिगड़े होंगे;

पदों और अधिकारों के लिए छीना-झपटी चलती होगी;

ध्याग और तप को वहाँ ठुकराकर कुचल दिया गया होगा, और जलाये गये मिष्ठान्तों में धुँवाँ उड़ रहा होगा ।

उपनि-अनुचित हर तरीके में निधि इकट्ठा करने का ध्येय प्रमुख होगा ;

और पवित्र उद्देश्य नस्त्रियों पर लटक रहे होंगे ।

किरबी कल और माना तो वही जवेगा कि मस्या जीवित है, और चिरकालतक जीवित ही रहेगी ।

यह आत्म-प्रवचना आखिर कबतक ?

धोखा दिया किसने ?

कहीं आधी रात के बाद यात्री वह, उग गाँव में, रास्ता भुलना-भालता पहुँचा, और गाँव की नींद में जा गया। सुबह जाग तो अचरज में डूब गया। यह कैसा कि सूरज पश्चिम में उगा है ! नहीं, सूरज डूबा नहीं, यह तो चढ़ रहा है ! अपने ज्ञान पर उसे विश्वास था कि वह गलत हो नहीं सकता। मगर उसे दिग्भ्रम में चक्कर में डाल दिया। धोखा खा गया। दृष्टि-दोष जा गया। गणितभूलक अभ्यास न होने से।

एक दूसरा राहगीर काफ़ी रास्ता भाग आया था, पर न तो उसे पहाड़ का वह घाट मिला, और न वह नाला, वे चौकियाँ भी नहीं, जिनको उसने कई बार अपना नक्शा खोल-मोलकर देखा था। आश्चर्य पग-पग पर बढ़ता जा रहा था कि नक्शा खींचने में तो भूल हुई नहीं, तब उसपर अकित वे सारे स्थान उसके यात्रा-मार्ग में क्यों नहीं आये, और एक नया ही जंगल, दूसरी ही पहाड़ियाँ और वे गहरे सूखे नाले क्योंकर उसकी राह में आ खड़े हुए !

ज्ञान नहीं हो पा रहा था दोनों ही यात्रियों को, कि वे असल में तो दिशा भूल गये हैं। इसीलिए एक तो सूरज पश्चिम में उगा था, और दूसरे के नक्शे पर आकर पहाड़ और नदी-नाले ग्रहीत मार्ग में हट गये थे।

और, उस रोगी का भी आश्चर्य बढ़ता जा रहा था, जिनसे रोगोपचार में कोई कमी, अपनी जान में, नहीं होने दी थी। जद्य दवा के सेवन से नये-नये रोग उभर आये और एक-दूसरे से उलझ बैठे, तबभी उसे उपचार में कोई भूल दिखाई नहीं दी। समझ नहीं पाया वह कि

गुम्हा तो दूसरे ही रोग का था, और आहार-विहार भी कुछ ऐसा कि जिससे मूल रोग में उलझने पैदा हो गई थी।

सुरज ने कोई भूल नहीं की थी। नकशे की कोई सलती नहीं थी। दवा भी अपने-आपसे वैसीही सही थी। एक की औखों को भ्रम हो गया था। दूसरे ने रागना उल्टा पकड़ लिया था। और तीसरा किसी और ही रोग के लुप्तो से इलाज कर रहा था। तबीजा तब कुछ-का-कुछ तो आना ही चाहिए, उल्टा आये या फिर कुछ भी न आये।

अपनी जान में हम रागना सही पकड़ने हैं, और प्रयत्न और उपाय भी हमारा, अपनी समझ में, सही होता है, अथवा कुछ अंशों में अपनी असमर्थता को सामने रखाकर समझौता कर बैठने है कि कार्य की दिशा सही है। मगर परिणाम या तो उल्टा जाता है, या फिर न्यूनवत्। तथापि उन मूलभूत कारणों को यथोक्त निकालने की तरफ ध्यान नहीं जाता। मान्यता क्योंकि रुढ़ बन जाती है।

मान लिया गया कि राज्य-शक्ति का आश्रय लेकर धर्म की सदा वृद्धि तथा समृद्धि होती है। इतिहास के पन्नों ने भी ऐसी मान्यता का दृढ़ कर दिया है। ध्यान ही नहीं गया कि राज्य का आश्रय लेकर धर्म का शरीर तो बेहद मोटा हो जाता है, काफ़ी फूल जाता है, परन्तु उसके अन्दर की प्राण-शक्ति समाप्तप्राय हो जाती है। माना कि जान-मानकर धर्म की परिभाषा को नहीं बदला गया, किन्तु उसका आभूत रूपान्तर तो हो ही गया। कारण कि रागना सलत पकड़ लिया गया था। सत्य तो असल में अपनेही स्थान पर स्थिर था। मगर दिया-भुल में, उल्टे साधनों में, वह हाथ नहीं आया। धीरे-धीरे आश्चर्य भी वह हट गया। हाथ में जो कुछ आया, उसेही सच्चा मान लिया गया। तब सत्य दूर लड़ा खिलखिलाकर हँस पड़ा कि उसे खोजनेवालों की आँखों पर यह कैसा मोहक आवरण आ गया !

अस्त्रों को नष्ट करने के लिए वे सामने आते हैं, सामनेवाले पक्ष के

धोखा दिया किसने ?

२६

अस्त्रों को समुद्र में फेंकवा देने के लिए । खुद अपने लवादों के अन्दर आस्तीनों और जेबों में, घातक-से-घातक अस्त्र छिपाकर शान्तिवाहक श्वेत कपोतों को उड़ाने का दावा करते हुए वे शान्ति-परिषद् में भाग लेने पहुँचते हैं । अविश्वास या पग-पग पर का संदेह तब निरस्त्रीकरण की सही दिशा में उनको कैसे ले जा सकता है ?

निरस्त्रीकरण यदि दो में से एक पक्ष सचमुच करना चाहता है, तो दूसरों के प्रति दृढ़मूल अविश्वास को वह मन से निकाल दे, और पहले अपनेही अस्त्रों को समुद्र में डुबो दें । विश्वास से क्योंकि विश्वास पैदा होता है, और अविश्वास से अविश्वास । ग़लत दिशा पकड़ने से परिणाम ग़लत ही आता है ।

शिक्षायात कैसी, कि लोक-सेवा की प्रवृत्तियाँ बहुतेरी चलाई, परन्तु परिणाम वैसा न आया कि जिसकी आशा की थी । जिन लोगों की कुछ सेवा की, उन्होंने कृतज्ञता भी न प्रकट की, जैसे ऊसर में बीज फेंकना हुआ । यहाँ भी रूढ़ मान्यता से ही काम लिया गया । प्रवृत्तियाँ चलाने से आशय यही कि अमुक संगठन या संस्था खड़ी की, उसका विधान बनाया, नियमों-उपनियमों का जाल फैलाया, घन इकट्ठा किया, चुनाव हुआ, पदों पर भगड़े चले और राग-द्वेष ने अड्डा जमा लिया । जन-सेवा को अहंकार ने और कृतज्ञता पाने के लोभ ने मलिन कर दिया । सेवा खरीद-फ़रोख्त की चीज़ बन बैठी । क्या यह ग़लत दिशा में क़दम रखना नहीं था ? तब फिर रोना कैसा ? आश्चर्य प्रकट किया जाता है, कभी-कभी दुःख और क्रोध के साथ भी, कि प्रयत्न तो ऐक्य की दिशा में किया गया, किन्तु परिणाम तो उलटा ही आया । क्या इधर भी कभी ध्यान गया कि प्रयत्न चूँकि यांत्रिक होते हैं, इसीलिए भावात्मक ऐक्य सिद्ध नहीं हो पा रहा है । राजनैतिक हेतु से उसकी प्राप्ति के उपाय विफल तो जाने ही वाले हैं ।

भुला दिया गया कि सत्य और प्रेम के विचारों को व्यापक बनाने

का अमोघ साधन अपना स्वयं का त्यागमूलक चारित्र्य-बल होता है। इसमें पूरा संदेह है कि यांत्रिक रूप से किसी संगठन द्वारा चलाई गई प्रवृत्ति का परिणाम सही-सही आयेगा। हो सकता है कि जिन कारणों ने विषमता को जन्म दिया और उन्हींसे वह फूली-फली, उन्हें हटाने में यांत्रिक प्रवृत्तियाँ न केवल असमर्थ सिद्ध हों, बल्कि न चाहते हुए, अप्रत्यक्ष रूप से, विषमता को उलटे उनसे बढ़ावा भी मिले। अतः गलत दिशा में चलकर निदिष्ट स्थान तक पहुँचने की रूढ़ या मूढ़ मान्यता का त्याग करना ही होगा।

आश्चर्य कैसा कि प्रचुर मात्रा में धन खर्च करने तथा विशालकाय पुस्तकालयों में प्रकाण्ड विद्वानों को बैठाकर भी वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर, तुलसी, कबीर या रवीन्द्र की रचनाओं की तुलना का साहित्य क्यों निर्माण नहीं होता है। इस प्रकार के साधनों और धन-राशि खर्चने से भी साहित्य का निर्माण तो होता है, पर वह दूसरी ही कोटि का होता है।

गलत दिशा जा पकड़ने और गलत साधनों को अपनाने से प्रायः परिणाम जहाँ-तहाँ उलटे देखने में आ रहे हैं। मिथ्या आत्म-संतोष की भावना बढ़ रही है। पुरुषार्थ पंगु होता जा रहा है। तेजस् क्षीण हो रहा है। सत्य से हम दूर और दूर हटते जा रहे हैं। इस दिग्भ्रम से आखिर कब छुटकारा मिलेगा ?

दीमक और घुन

मण्डप वह सारा काष्ठ का था— अत्यन्त आकर्षक, अत्यन्त कलात्मक । वह ऐसे स्तम्भों पर आधारित था, जिनपर अद्भुत नक्कासी थी । बेल-बूटे, लहलही पत्तियाँ, कोंपलें और पंखड़ियाँ छूने पर ही भेद खोलती थीं कि उन्हें लकड़ी पर खोदा और सँवारा गया है । फिर चिकने ऐसे कि दर्पण को मात देनेवाले । उनके ऊपर पशु-पक्षियों, मानवों और देवों की ऐसी-ऐसी आकृतियाँ बनी हुई थीं, कि जिनको देखकर पुरातत्व के अन्वेषकों ने काल की गति-विधियों का पता लगाया था ।

मण्डप साक्षी था एक लम्बे अतीत के उतार-चढ़ाव का, और निर्माण और विकास के अनेक स्तरों का । सागर की सीढ़ियों ने कितनी ही बार उसे घूमा था, और धरती के प्रकंपनों ने उसके स्वर्ण-कलश पर थपकियाँ लगाई थीं । फिरभी वह सदा वैसाही स्थिर खड़ा रहा ।

मण्डप के स्तम्भों और छत पर अंकित छाप बतलाती थी कि वहाँ प्राचीनों ने संस्कृति के प्रथम प्रभात का स्वागत किया था, और अर्द्धत की एकान्त साधना भी वहाँ पर हुई थी । वहीं कवि ने रंगीन कल्पना का स्पर्श किया था, और उसीके नीचे कलाकार ने समन्वय का स्वर-भी साधा था ।

मण्डप पर प्रत्येक को गर्व था । आश्चर्य होता था कि किस अनूठे काष्ठ से उसका निर्माण हुआ होगा ! घन्य होगा वह बन, जहाँ से उसके निर्माणार्थ वह काष्ठ आया होगा ! तद्भुत होगा वह स्थापत्य, और न जाने तब किस-किस स्वर्ग से उतरे होंगे वे शिल्पी और कलाकार वहाँ !

मण्डप के एक कोण में एक ग्रंथागार था, जिसने न जाने कितने जिज्ञासुओं का समाधान किया था, और प्रश्न-चिह्नों को प्रायः मिटा दिया था। कई शताब्दियों से बन्द पड़ा था वह ग्रंथागार वहाँ बड़ी-बड़ी पेटियों के अन्दर।

किन्तु यह क्या हुआ ? वे वज्र-जैसे स्तम्भ, क्या हो गया उनको ? हाथ लगाकर देखा तो जैसे अंदर-अंदर क्षय हो रहा था। और भी ध्यान से देखा, तो सफ़ेद-सफ़ेद कीट-पंक्तियाँ रेंगती नज़र आईं। तूफानी लहरों और भूकम्प की स्मृतियों पर वे अट्टहास कर रही थीं।

ऐं ! यह क्या ? प्रत्येक ग्रन्थ के प्रत्येक पन्ने पर छिद्र-ही-छिद्र ! स्वर्णक्षरों से चित्रित चर्म-वेष्टनों का भी यह क्या हुआ !

‘घुणाक्षर’ प्रसन्न थे और उदारता व्यक्त कर रहे थे भावी शोधकों के प्रति, कि वे उनका जैसाभी चाहें वैसा अर्थ लगा लें।

अन्तरिक्ष स्तब्ध था, और वायु-मण्डल म्लान। मण्डप और वहाँ का ग्रन्थागार क्या वे सर्वथा स्वप्न-कल्पित थे ?

पर वह क्या सारा ही चटित नहीं हो रहा ऐसे मानव-समाज पर, जिसकी सभ्यता और संस्कृति पर गर्व किया गया युग-युग से, और जिसके अद्भुत सौंदर्य पर मुग्ध होने को प्रत्येक का मन हो आया ? किन्तु ध्यान से देखा तो उस समाज की अद्भुत परम्परा के कीर्तिध्वज को मलिन और खंडित करते जा रहे हैं संकीर्णता और विषमता के विषैले कीटाणु।

विज्ञान ने जबकि खोज निकाले हैं दीमक और घुन को नष्ट करने के तरह-तरह के उपाय, तब क्या शालीनता एवं समता के सुन्दर कलात्मक स्तम्भों पर खड़े मानव-समाज को खोखला, क्षीण और असुन्दर होने से नहीं बचाया जा सकता ?

है कोई रास्ता ?

एक बाग है । तरह-तरह की सब्जियों और फलों और फूलों से लदा हुआ । जमीन खूब उपजाऊ, सिंचाई के सुन्दर साधन, बढ़िया बीज और वैज्ञानिक माली-सभी कुछ तो है । लताएँ वहाँ मुस्कराती हैं । क्यारियाँ फूली नहीं समाती हैं । मौसम की कोई क़ैद नहीं, जहाँ भी देखो सदा-बहार ।

एक-एक पौदे, एक-एक पेड़ को अचरज है और खुशी अपने काया-पलट पर कि आकार उनके बदल गये, और रंग भी पलट गया । बाग की रंगीन खुशहाली को जो भी देखते मुग्ध हो जाते हैं । मालियों के उल्लास का तो पार ही नहीं । अपनी कला-कुशलता पर क्यों न उनको गर्व हो ।

श्रम और विज्ञान का मिला-जुला चमत्कार यह देखते ही बनता है ।

मगर एक विराट् वृक्ष बीचोबीच अनमना-सा खड़ा है । पत्ते उसके झड़ गये हैं, डालें सूख गई हैं ।

रूपहली-सुनहरी खाद बार-बार दी गई, और यन्त्रों से उसके तल-तक पानी पहुँचाया गया, पर असर कुछ भी न हुआ । विज्ञान भी हार मान चुका है ।

जन-श्रुति प्रचलित है कि इस विराट् वृक्ष के कारण ही वह बाग जग-विख्यात हुआ है । प्राचीनों ने उसका जो गौरव-गायन किया, वह वहाँ के वातावरण में आज भी गूँज रहा है । लगता है कि यदि यह हरा न हुआ, तो बाग की सारी ही शोभा फीकी पड़ जायगी ।

किन्तु हरा इसे किया कैसे जाये ? किस योजना से, और किन साधनों से ? और माली भी वैसे कहाँ से लाया जाये ?

पर इस जर्ण-शीर्ष वृक्ष पर इतनी ममता क्यों ? काटकर क्यों न इसे गिरा दिया जाये ?

अंतरिक्ष से तब जैसे कोई वाणी फूट पड़ती है कि — “खबरदार ! यदि ऐसा अनर्थ किया, तो यह लहलहाता बाग उसी क्षण भस्मसात् हो जायगा ।”

तब तो इसे हरा करना ही होगा ।

बात सीधी-सी है ।

तरह-तरह की योजनाएँ हमारे सामने हैं । विज्ञान नई-नई जान-कारियाँ रोज दे रहा है । प्रगति और समृद्धि जहाँ-तहाँ कंचन बिखेरने लगी है । सारा ही दृश्य यह स्वागताहं है ।

किन्तु यही, इतना ही काफ़ी है क्या ? एक प्रश्न है—

यह कि, जहाँ मानव अस्वस्थ है, और जिन उपायों से उसका सुजन हुआ था, वे ही जब नष्ट होते जा रहे हैं, तब इन योजनाओं का प्रयोजन ही क्या ?

सचाई और ईमानदारी और दृढ़ता और परस्पर की प्रीति और उत्सर्ग इन्हींसे तो वह स्वस्थ था, प्राणवान था, और अब ये ही उसके अन्तर को एक-एक करके रिक्त करते जा रहे हैं ।

है कोई रास्ता इनको लौटाने का ?

स्वप्न नभ-चुम्बन का

वह वहाँ खड़ा-खड़ा देख रहा था बड़े ध्यान से उस ऊँची और ऊँची उठती हुई मीनार को । उसका मानस-नक्रशा बता रहा था कि वह अब आसमान को छूनेही वाली है । मीनार के तीन खंड उसने खुद ही निर्मित किये थे चन्द साथियों की मदद से । उसके बाद, सैकड़ों ही खंड उसकी प्रफुल्लित दृष्टि के सामने जैसे अपने-आप ऊपर और ऊपर उठते चले गये । वह प्रसन्न था, और विस्मित भी अपनी अद्भुत कृति के आश्चर्य-कारी उत्कर्ष पर । उसे लग रहा था कि हज़ारों और लाखों हाथ मीनार को ऊँची-से-ऊँची उठाने में होड़ लगा रहे हैं । कृतसंकल्प साथियों को देख-देखकर उसकी दृष्टि कृतज्ञता के श्वेत पुष्प चारों ओर छितरा रही थी, और वह कृतार्थता के हिडोले पर अधर में भूल रहा था ।

कितने ही राहगीर उस रास्ते से रोज़ गुज़रते थे । अधिकांश ऐसे, जो मीनार को न तो देखते थे, और न उसपर उनका ध्यान जाता था । इन्ते-गिन्ते राहगीरों की ही दृष्टि उस ओर जाती थी, किन्तु बिना किसी उद्देश के ।

और, वह खड़ा-खड़ा मन-ही-मन चित्र बना रहा था, कि उस नभ-चुम्बी मीनार पर चढ़कर लोग देखेंगे कि धरती पर ऐसी चादर बिछ गई है, जिसपर एकभी घ्रब्बा नहीं, रंग-बिरंगापन कुछ भी नहीं, और उसपर चलनेवालों में न कोई बड़ा है, न कोई छोटा । फिर वे देखेंगे कि हंसों की पंक्तियाँ मीनार के चारों ओर कल्लोल कर रही हैं, और वातावरण सारा ही विकसित पक्षों की सुगन्ध से भर गया है ।

निर्माण की बुनियाद उसने जिस शिला पर रखी थी, उसके आस-पास बालू से भरे सैकड़ों गड्ढे थे ।

एक दिन फिर वह वहीं पर खड़ा था, और अकेला ही । साथियों ने उसका साथ छोड़ दिया था । मीनार उसे पत्ते की तरह हिलती दिखाई दी । और लो, सबसे ऊपर का खंड चक्कर खाता जमीन पर घड़ाम से आ गिरा । फिर इसी तरह दूसरे कई खण्ड भी । फिरभी वह डरा नहीं, विस्मित भी नहीं हुआ । खिल-खिलाकर हँस पड़ा वह । देखता है कि उसके बनाये मीनार के वे तीन खण्ड ही खड़े हैं । आश्चर्य इतना ही कि गिरे हुए पचासों खंडों के ईंट-पत्थर आखिर गये कहाँ, और उसके उन साथियों का भी क्या हुआ !

उसने निश्चय किया कि जो कुछ बच गया, वही वास्तविक है । ऊँचाई वह सर्वथा काल्पनिक थी । सारा ध्यान उसे अब गहराई पर केन्द्रित करना होगा । विस्तार, जो कल्पना के आधार पर किया, वह गलत था ।

उसके निर्माण का नभ-बुम्बन का स्वप्न भंग हो गया था । आकाश के प्रति वह कृतज्ञ था, कि उसने उसकी कल्पना-सृष्टि को टुकड़े-टुकड़े कर दिया ।

वह जीतकर ही लौटा है

उस बहुरंगी कोलाहलपूर्ण मेले से वह अभी-अभी लौटा है। उसने वहाँ न जाने क्या-क्या देखा, और क्या-क्या सुना था। वह सारा ही उसकी कल्पना से बाहर था। वह अपना निराली ही दुनिया में बरसों रहा था, और अपने कई विश्वासों को उसने मजबूत बना लिया था। वहाँ, उस मेले में, उसकी धारणाओं और विश्वासों को ढिगाने और उखाड़ने का बहुतेरा यत्न किया गया, पर वह जरा भी न डगमगाया। उसने जो कहा था उसमें से मेले में कुछ भी नहीं गँवाया।

खड़ा है वह अकेला ही एक चौराहे पर। पर जैसे कुछ चकित-सा है। चेहरे पर कभी तो प्रसन्नता की रेखाएँ उभर आती हैं तो कभी किसी गहरे विचार में वह डूबने-उतराने लगता है। ऐसा लगता है कि अपने-आपमें वह निःसंशय है।

मेले में बहुतों ने उसे जो घेर लिया था और नया-नया ही उसे दिखाया और सुनाया था, वह सारा ही उसे ज्यों-का-त्यों याद था, जैसे—

वे कहते थे, “छोड़ो इस भद्दी सादगी को। क्या धारण कर रहा है यह गँवारू लिबास ! दूर-दूर से आगत मेहमान तुम्हारा यह भौंड़ापन देखकर क्या कहेंगे ? तुम्हें देखकर हँसेंगे वे। समझलो, भृंग के पास जाकर कीट अपने उसी रूप में नहीं रह सकता।”

वे कहते थे, “मछपान के विरुद्ध तुम यह क्या बात कर रहे हो ? तुम नहीं जानते कि तुम्हें शिक्षित और सभ्य बनना है। परहेज रखने

से तो काम नहीं चलेगा। सम्य सम्राज में तुम्हें कोई पूछेगा भी नहीं।”

वे कहते थे, “तुम जिस भौड़ी भाषा में बात करते हो, उसे उच्च श्रेणी के कितने लोग समझते होंगे ? तुम्हारी यह भाषा भलेही लाखों-कराड़ों समझते हों, पर उनकी क्रीमत क्या ?”

वे कहते थे, “अस्पृश्यता की यह क्या बाद कर रहे हो ? वह है भी कहीं ? भेद-भाव कुछ-न-कुछ तो रहेगा ही। सृष्टि के इस सनातन नियम को पलटनेवाले तुम होते कौन हो ?”

वे कहते थे, “तुम मूर्ख हो, जो सचाई और ईमानदारी की डींग हाँकते हो। इस घिसे-पिसे रास्ते पर पैर घसीटते हुए तुम प्रगति कभी कर नहीं सकते।”

वे कहते थे, “गांधी की इज्जत तो हम भी करते हैं, पर उसकी मूरत हमने अपने खुद के बनाये सचि में ढाल रखी है। और एक तुम हो, जो सत्य और अहिंसा को ही गांधी का असली प्रतिरूप मान बैठे हो !”

और, वह सोचने लगता है, और खुश भी है कि उस बहुरंगी मेले में उन आधुनिकों ने उसे सहन तो कर लिया, भलेही उसे हँसों के बीच में बगुला समझ लिया गया हो।

उसके प्रसन्न चेहरे पर से दीख पड़ता है कि उसकी आस्था अपने देश की वेश-भूषा पर, और अपनी भाषा पर, और मद्य-निषेध की बात पर, और अस्पृश्यता के उन्मूलन पर, और सच्चाई, ईमानदारी और नेकी पर और भी अधिक बढ़ गई है। उसने अपने आपको किसीभी रूप में छोटा या असम्य या लज्जित नहीं माना। उसका विश्वास है कि उस मेले में से वह हारकर नहीं, किन्तु जीतकर ही लौटा है।

वह जीतकर ही लौटा है

‘सुरसरी बहै गज भारी’

अंधेरी काली रात । एकदम गुनगुना । दिशाएं डरावनी । नदी बेहिसाब बढ़ी हुई । भयकर बाढ़ थी बह । उस पार का कुछ भी नहीं दीख रहा था । यात्री ने न जाने क्या-क्या मनसुंघे बाध रचे थे । पर अब हुताश था ।

उस पार जाने का कुछ भी साधन नहीं । नाव होनी थी, तो उस तेज धार में कब की उगमगाकर बह गई होगी । एक बार हुआ कि कुछ पड़े अथाह पानी में, और बाढ़ बहा ले जाय चाहे जहाँ । उसकी अर्धांशुता और व्याकुलता को कौन माप सकता था ।

हिम्मत करके बाढ़ की भयंकरता को उसने नजदीक से देखा, जबकि विजली काँधी । देखा, मछलियाँ धार की उलटी दिशा में तैरती जा रही हैं, और वहीं एक घबराये हुए हाथी को बाढ़ बहाये ले जा रही है ! तुलसीदास के एक पद की यह कड़ी यात्री के कानों में गूँज गई—

सफरी सनमुख जल-प्रवाह,

सुरसरी बहै गज भारी !

यह क्या ? वन कुछभी काम न आया । हाथी देखते-देखते बह गया, और ये छोटी-छोटी मछलियाँ प्रवाह के सामने कन्डोल कर रही हैं !

उसी क्षण उसका ध्यान चला गया वहाँ, जहाँ कि एक दिन देखा था बड़े कृतुहल में कि चींटियाँ रेत के कणों में मिली हुई गदकर को अलग कर रही थी । उसी पद की इन काँड़ियाँ पर फिर उसका ध्यान जा टिका -

ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ,

बल ते न कोऊ बिलगावै,

अति रसज्ञ सूक्ष्म पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावे ।

अब तो वहाँ भी काम न दिया । मछली की कला और चींटी की मजदूरी का भान अब हुआ, और सारी रात वहीं खड़ा-खड़ा वह इसी विचार में गुनगा-डुनगा रहा ।

रत्नसामक कार्यक्रमकर्ता भी आज प्रतिफलता की कगार पर खड़ा है । वह योजना बनाता है, पर उसे विचारों में सफल नहीं हो पा रहा । वह नये-नये नारे लगाता है, और अपने चारों ओर असर डालना चाहता है । मृगजालों की ओर खिंच आते हैं कुतूहलवश । पर थोड़ी ही देर बाद मृदु विद्रोहकार लौट आते हैं । मन उनका अन्दर-ही-अन्दर कबोड़ता है कि क्यों उसका हर बात उल्टा पड़ता है । अपने रास्ते में वह भारी-भारी चट्टानों को देखता है, और उनकी लहरों में दुमरी में उधार की लड़-बाधन का प्रयोग करता है । और, प्राण माधन भी उनकी धरती में बाधक बनने जा रहा है । वास्तव पर निम्ने कार्यक्रम भीगे उमपर हंस रहे हैं । वह थुथी तरह श्वास हो गया है । कैसे पार ली प्रतिफलताओं को हराकर ?

याद करता है कि कठिनाइयाँ और मुकाबले तो नब्र भी थीं, जब समानो से, बिना ऐसी नाकल और बिना ऐसे नाधनों के, पार पा दिया गया था । वह कैसे हुआ था ?

और, उसे भी, उस यात्री की तरह उसी पद की वे कठिना ध्यान न दिया ही, और, उसने एक प्रकाश पा लिया । मछली और चींटी की रस-कला पर ध्यानस्थ हो गया । देखा कि उसके अन्दर वह धाम्ना और दृढ़ निष्ठा नहीं है, जो हताश होने से बचा सकती है । वह अन्धक राज-मला और आधक माधनों का पक्षपात पकड़े हुए था, और मृगजाल की दीवार पर योजनाओं और कार्यक्रमों को उसने लिख रखा था । मछलियों और चींटियों ने उसे प्रगति का रास्ता दिखा दिया और उनके रास-रोस में एक नई ज्योति फूट पड़ी ।

मुरसरी बहै गज भारी

हाथ री आसवित !

"कितना ही कहा, हाथ जोड़-जोड़कर कहा, और दूगरीं में भी बटलवाया उस सर्गदिल पावटूर में, पर तरीजा कुछ न निकला । अस-ताब में आज मुझे मुक्त कर ही दिया उसने । बहुत बुरा हुआ मर मुझ मरीज के हक में । किसने जेल में दिस मुजर रहे थे कहा ।" खाली बाइ खीचकर अपने मिन में उस मुक्त मरीज ने कहा ।

अस्पताल में उसे छुट्टी मिल गई थी । और जाने पर अपने घर की जा रहा था । बिदाई उसने रीस-नीपा में रीते-रान की थी ।

"लेकिन पाचर ने तो मुझसे बीम दिस पहले कहा था कि तुम बिल्कुल चगे हो गये हो । फिर अस्पताल के प्रति सम्मान जतना सीह क्यों, एतना लगाव क्यों ?" उसने मिन में आइकरी कराय गुना ।

"यह तो मैं भी जानता हूँ कि रीस अब नहीं रहा, हालाँकि चारता बहुत था कि कुछ तियासी चीजें जथा मेरा साथ, ताकि एक-दो माह और घेत में बिता रिता अस्पताल में ।"

"पर तेरा अमृत तुम चाहते क्या थे ?"

"क्योंकि वहा वस्त खूब मात्र में दीया था । दिसबरी दिगली अच्छी बन गई थी । कोई फिक नहीं थी, कोई जराबेरी नहीं थी । ताँकर गारा काम कर देने थे, भडा गतिर राहे थे । हर बात पर ते लोग व मिन दिवने आ जाते थे । गाँठ का कुछ भी लने नहीं होता था । मख-चैन के बे दिन अब कल समेत देने थे ।" उसने आँखों में कनेजा पत्थर का निकला । कुछ भी रहम न अयाद देने । एक-दो महीने तो और रहा ही सकता था उस भाग्यमानी 'पैड' पर । कोशिश करती ही होगी फिर ते बीमारी को आमंत्रित करने की ।"

मित्र ने उसका हँसना था ही, ताँगेवाला भी अचरज से बार-बार उस मुक्त मरीज की ओर देख रहा था, और मन-ही-मन हँस रहा था कि हीन-हीन अस्पताल की यह कमबख्त जुदाई इस बेचारे को कितनी सहेंगी पड़ी है ।

और इसी तरह, बुरा है किसी समस्या का हल निकल आता, किसी उनभक्त का मुलझ जाना ।

प्रश्न जो बेहद मुख देना है, वह उसके उत्तर में कहाँ ? मुख तो किसी गाँठ में फन्दे-पर-फन्दे पड़ने में है, उसके मुख जाने में कोई सजा नहीं ।

उस मुक्त रोगी की ही तरह कुछ इसी प्रकार की उधेड़-बुन में लसा हुआ था एक सार्वजनिक कार्यकर्ता, और बार-बार दूसरतभरी निगाहों से देख रहा था अपने सख्तवन्द दफ्तर की ओर ।

समस्या क्योंकि हल हो चुकी थी । काम खत्म हो गया था । फाइले अब और आगे नहीं बढ़ पा रही थीं । एजेण्डा बनावे नहीं बन रहा था । रिपोर्ट में कुछ सार नहीं रह गया था । पिस्ट-पेपण और अधिक हो नहीं सकता था । फिरभी वह चाहता था कि काम न रहने हुए भी कुछ सात्व, या खन्द महीने ही सही, दफ्तर को चालू रखा जाये, ताकि कोई-न-कोई ऐसा सूत्र हाथ लग जाये, जिसमें निष्प्राण कार्यक्रम को छेड़कर रखा जा सके ।

परन्तु, उस टावर की ही तरह, तेजी से उगे भरना हुआ हृदयहीन नाव उसको एक नहीं सुन रहा था । उसने दफ्तर पर तात्का अक्का ही दिया । सुर्दार समस्या को अब और कितने दिन जीदित रखा जा सकता था ।

वह रोगी और वह कार्यकर्ता दोनों ही मुक्ति का रहस्य समझ नहीं पा रहे थे । उनको तो अपने-अपने मुक्ति-उत्सव पर आनन्द मनाना चाहिए था । पर हाय रा आसक्ति !

हाय री आसक्ति !

‘पूजन’ ही या ‘अनुसरण’ भी

कहा जाता है कि भारत का औसत आदमी प्रायः भावनाशील होता है। वह जित्त किसीकी श्रद्धा-भक्ति से देखता है, उन्ने अत्यधिक मान देता है। उन्ने क्या-क्या शिक्षाएँ दी थीं अलग-अलग अवसरों पर क्या-क्या कला श्रौ और स्वयं कैसा क्या आचरण किया था, उसपर उस भावुक व्यक्ति का ध्यान मायदा ही कभी जाता है। वह तो उसकी श्रद्धा-भक्ति ध्यान-मूर्ति की पूजा करने में ही मगोप मानता है। अन्ने महा-पुरुष को धरती पर से उठाकर वह कहीं ऐसी ऊँचाई पर बैठा देता है, जहाँ आसानी से पहुँचा नहीं जा सकता। वह उसका नाम जपता है, उसकी जय बोलता है और उसके जन्म-दिन व मरण-दिन पर उत्सव मनाता है। किन्तु उम्के दिग्गज मार्ग पर चलने को वह तैयार नहीं होता। पूछो तो कहता है, “महात्मा के रहने पर तो कोई महात्मा हो चक सकता है, मुझ मरीया दृष्टिया का अन्धकार नहीं।” मानता है कि चूँकि वह अत्यधिक पुरुष था, इसलिए वह सच बोलता था, सच बोलता था और सचही किया करता था। उसका भक्त उसकी बराबरी होने कर सकता है। मतलब यह कि जो “पूजनीय” है वह व्यवहार में ‘अनुसरणीय’ नहीं हो सकता।

लेकिन वह जिस महापुरुष को पूजनीय मानता है, उम्के जीवन-वृत्तों में से ऐनेभी कुछ प्रसंगों को चुन-चुनकर प्रमाण के तौर पर उनी-कभी पेश कर देता है, जो उसकी अपनी कमजोरियों के साथ उसकी राय में किसी-न-किसी अंश में मेल खा सकते हैं। रामायण और महाभारत या दूसरे ग्रंथों में से महापुरुषों के कतिपय प्रसंगों और वचनों के प्रमाण

वह हर मौके पर दिया करता है । महापुरुषों के जैसे उदाहरण दे-देकर अपने भक्त्य का आर अगनी हिमा-प्रतिहिमा का औचित्य वह सिद्ध कर देता है । मित्रान्त और व्यवहार में साम्य देनेसे या स्थापित करने का उसका स्वभाव न्याय ही होता है ।

पुराणों में उल्लिखित महापुरुषों के चरित्रों और शिक्षकों पर अत्याधिकता के आचरण करने अधिक कहा दिये गये हैं कि उनके सही रूपों का प्रतिफल होता कटित हो गया है, कटित बना दिया गया है । विपरीत आचरण करने हुए भी वह भावनाशील कविते उन पुराण-पुरुषों का आन और अनुयायी आन आपसों कहला सकता है ।

फिर उनके जीवन-चरित्रों और शिक्षाओं के अर्थों को मनमाने ढंग से प्रस्तुत किया जाता है । मान लिया गया है कि ये महापुरुष 'अध्यात्मिक' थे । जो अलौकिक लीला स्वीकारते उन अवतारों और भर्माहों की बात को किम्वदन्त छोड़ दिया गये । हमारी नजर के सामने ते ही ऐसा आदर्श अभी-अभी गुप्त है, जिसने अपनी मारा करनी व सारा रहनी से सदा-सा का दर्जा प्राप्त कर लिया था । वह कोई अवतार नहीं था, क्योंकि उसे कभी-कभी अवतार भी मान लिया गया था । उसने कोई अलौकिक लीला नहीं स्वी थी । आसमान से न उसने धरती पर कोई संकेत उतारा था । नतक्य यह कि अलौकिक होने का उसने कभी माना नहीं किया था । ऐसाही वह एक आदर्श था, जैसे कि हम और ना है । न मजोरिया और अपूर्णताएँ उसमें भी थी । मगर एक के बाद एक प्रयोग सत्य के क्षेत्र में वह बराबर करता ही रहा । जीवन की प्रयोगशाला में उसने महारा जिया या अहिमा का, सारी दुनिया के प्रति निरन्तर प्रेम का । मोक्ष पर उसकी आधारी समस्तक अनवरत जारी रहे । सत्य को उसने देखा और उसे पुरखा । जो कुछ देखा, दूसरों को भी वही दिखाने का यत्न किया । सत्य की सच्चाई में ग्रहण किया । सत्य पर अवहट्ट रखा । असत्य के साथ हर घड़ी संघर्ष किया, समझौता कभी

पूजने ही या अनुसरण भी ?

नहीं। अपने प्रयोगों, परीक्षणों और अनुभवों का आधार लेकर उसने बताया कि व्यक्ति और समाज संसार में स्वतंत्र और सुखी कैसे बन सकता है। सम्पदा और समृद्धि की उसने एक सीमा बाँध दी। मशीन के मुकाबले मानव को स्वभावतः ऊँचा स्थान दिया। शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य का उसने सही-सही दर्शन किया और दूसरों को भी कराया। जो शिक्षाएँ दीं, उनको तर्क-वितर्कों के जाल में उलझाया नहीं, किसी वादविशेष में उनको बाँधा नहीं। बताने की ज़रूरत है क्या कि वह कौन था ?

उसने कोई नई बात नहीं कही। पहले जो-कुछ युग-युग में समय-समय पर और स्थान-स्थान पर मानव और समाज की भलाई के लिए कहा गया था, वही सब उसने दोहराया, मगर अपने निजी परीक्षणों और अनुभवों के पुख्ता आधार पर। भलाई यही कि अपने आपको बड़ा या ऊँचा न समझा जाये, और दूसरों को छोटा या नीचा न माना जाये। आपस का व्यवहार-वर्ताव एक दूसरे का सच्चा और प्रेम से भरा-पूरा हो। किसीके साथ अनीति न बरती जाये; न अनीति और अत्याचार के आगे कभी झुका जाये। निर्भय रहा जाये, मगर विनम्र। रहनी सावा हो। विचार ऊँचे हों। दिल उदार हो। जिसने ये सारी अनमोल शिक्षाएँ दोहराईं, और खुद अपने आचरण में उतारीं, वह था हमारे इस युग का एक ऐसा मानव, जिसे दुनिया ने 'महात्मा' कहकर पुकारा।

उसने अपनी ओर हजारों-लाखों को खींच लिया। कुछ तो समझकर खिंचे, बहुतेरे बिना समझे ही। सकाम खिंचाव बहुतों का रहा। थोड़ा-सा निष्काम भी हुआ। उसके ज़रिये जो कुछ मिलना था, वह जब मिल गया, तब कसौटी की वह घड़ी आ पहुँची कि उसके प्रति जो श्रद्धा-भक्ति प्रगट की गई थी, वह किस हदतक खरी थी और कहाँतक खोटी।

जिन कई बातों को उस महात्मा के पीछे चलनेवालों ने महत्त्व साधन माना था, उनको वह साध्य मानता था। साध्य प्राप्त हो जाने पर यह चीज अनुप्रायियों के गले उतरी नहीं। मतलब निकल चुका था। लग रहा था कि अब उस महात्मा की ज़रूरत उसके जीवित रूप में नहीं रही।

संयोग हुआ कि उसने शरीर गिरा दिया। अब वह एक पाषाण-प्रतिमा बन गया, अनेक प्रतिमाओं में से एक और। उसकी पूजा जहाँ-तहाँ होने लगी। देश-विदेशों से उसकी प्रतिमा पर बहुमूल्य मालाएँ चढ़ने लगीं। संस्थाओं, स्कूल-कालिजों, अस्पतालों, सड़कों और दूकानों के भी साथ उसका नाम जोड़ दिया गया। चौराहों पर मूर्तियाँ खड़ी की गईं। सुसज्जित भवनों और कल-कारखानों की दीवारों पर उसके चित्र लटका दिये गये। जाहिरा तौर पर कोई कसर नहीं रखी गई उसकी पूजा-प्रतिष्ठा के प्रदर्शनों में। भावुक भक्त ने अपने महात्मा के लिए भी वही कुछ किया, जिसे करने का वह सदा से आदी रहा था। फिर भी कुछ प्रश्न खड़े हैं अपने उत्तर पाने के लिए। प्रश्न हैं :

महात्मा ने जो कुछ सिखाया था और जिन बातों को आचरण में उतारने के लिए बार-बार कहा था, उनमें से कितना कुछ किया गया ?

उसका दिखाया रास्ता सचमुच में कितने कदम तय हुआ ?

दिशा कहीं उलटी तो नहीं पकड़ ली गई ?

उत्तर दे तो दिये गये, किन्तु प्रश्नों को सन्तोष नहीं हुआ। ऐसे प्रश्नों में अब्बल तो जवाब देनेवालों की दिलचस्पी नहीं थी; दूसरे, वे अपनी भक्ति-भावुकता को जाँच-पड़ताल का विषय नहीं बनाना चाहते थे। उनका विश्वास तो असल में यह था :

महात्मा की शिक्षा को आचरण में उतारने के लिए महात्मा की कृपा का बल चाहिए। उसका क्षुद्र अनुयायी अपने खुद के बल पर कर

‘पूजन’ ही या ‘अनुसरण’ भी ?

ही क्या सकता है ? पुरुषार्थ तो सारा महात्मा का ही है, बाकी कोरा अभिमान है ।

जिसने रास्ता दिखाया, वही उसपर चलने का बल भी देगा । उसके भावुक अनुयायी के अपने खुद के जब पैर ही नहीं, तब कितने कदम वह चला यह प्रश्न ही नहीं उठता है ।

इसी प्रकार क्या तो सीधी दिशा है और क्या उलटी इसका भी खयाल नहीं ।

उसका प्रयोजन केवल भक्ति-भावना में आकण्ठ डूब जाने से है । वह क्यों ऐसे-ऐसे प्रश्नों के उत्तर दे ?

मगर फिरभी प्रश्नों को कुछ-न-कुछ उत्तर तो चाहिए ही । अतः उत्तर दे दिये गये । इस प्रकार :

वह भावुक अनुयायी अपने आपको चूँकि दुर्बल मानता है, इसलिए प्रबलतम असत्य के साथ वह झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता । बल्कि उसके साथ रोजमर्रा समझौता करते हुए सत्यतक पहुँचने और उसका दर्शन करने की विनम्र साधना चल रही है ।

इसी प्रकार हिंसा को वगैर चोट पहुँचाये अहिंसा के चरणों तक पहुँचने की हिम्मत वह रखता है । हिंसा तो कभी की परास्त हो चुकी है । कौन नहीं जानता कि हर साल महात्मा की समाधि के ठीक सामने हिंसा की सशस्त्र शक्ति श्रद्धापूर्वक सलामी देती है ।

खादी को महात्मा बहुत प्यार करता था । कैसे हो सकता है कि उसका भावुक भक्त खादी को श्रद्धा की दृष्टि से न देखे । पर इस पवित्र वस्त्र को वह महात्मा के केवल जन्म-दिन और निर्वाण-दिन पर ही धारण करता है ।

महात्मा ने बुनियादी तालीम पर बहुत बल दिया था । उसके अंदर उसने क्रान्ति का दर्शन पाया था । उस नई तालीम पर उसके भावुक

अनुयायी की भी कम श्रद्धा नहीं है। मगर बालक उसके कॉन्वेंट में पढ़ते हैं। चूंकि वह अहिंसा पर विश्वास रखता है, इसलिए स्वतंत्रचेता संतान पर नई तालीम के निचारों को वह कैसे लादे और क्यों खा-म-खाँ हिंसा का भागी बने ?

पिछड़े वर्गों को महात्मा के आदेशों के अनुसार वह अपने ही समान समझता है। पर उसके साथ ही भक्ति-भोक्तापूर्वक यह भी मानता है कि उसके और पिछड़े वर्गों के बीच में कुछ भेद, कुछ द्वैत तो उहना ही चाहिए। भेद नहीं रहेगा, तो फिर सेवा किसकी करेगा ?

क्या दिन स्पष्ट उत्तरों से भी प्रश्नों को संतोष नहीं होगा ?

विनम्र साधना की ओर भी क्या कभी ध्यान जाता है ? इन दोनों तिथियों पर पिछले वर्ष का अपना तलपट देख लिया जाये, तो स्पष्ट हो जायेगा कि सत्य और प्रेम कितना तो कमाया है और कितना गँवाया है । उसके आधार पर फिर अगले वर्ष का अनुमान-पत्र तैयार किया जा सकता है ।

ठक्कर बापा के भी जन्म एवं अवसान के दिन पर देखा और अनुभव किया जा सकता है कि जन-सेवा में तन्मय होकर निष्काम भाव से, अंतर को स्फटिक के जैसा पारदर्शी रखकर, जीवन को कहाँ तक निर्मल बना लिया गया है ।

यदि ऐसा न किया गया, तो डर है कि इन महापुरुषों की जय-न्तियाँ और पुण्य-तिथियाँ जड़-पूजा का स्थान बहुत जल्द ले लेंगी, और उनमें मिथ्याचार और आडम्बर प्रवेश कर जायेगा ।

संकल्प यदि बेबुनियाद हो ?

गांधी-जन्म-शताब्दी ज्यों-ज्यों नजदीक आ रही है, बार-बार मन होता है पुछने को कि ऐसा कौन-सा कार्यक्रम बनाया जाये, जो गांधी के दिखाये मार्ग पर चलने को प्रोत्साहन और प्रेरणा दे। गांधीने जितना जो कुछ कहा और लिखा था, वह सब सामने पड़ा है। दुनिया की अनेक भाषाओं में वह सारा साहित्य संकलित हुआ, और हो रहा है। जिन उद्देशों की पूर्ति के लिए गांधीने जन्म लिया था, और जिनको साधते-साधते संसार से अचानक ही वह चला गया, वे सब उस साहित्य के पृष्ठों में भरे पड़े हैं। उनको जूहाँ-तहाँ पड़ा जाता है, उनपर चर्चोएँ होती हैं और टीकाएँ की जाती हैं। प्राचीनों के साथ भी तो ऐसाही हुआ था।

मगर गांधीने न जाने अपने कुछ साथियों से ऐसा क्यों कहा था कि, 'मेरी चिता पर मेरी लिखी पोथियाँ रख देना।' स्यात् शंका रही हो कि आगे चलकर लोग उन पोथियों के अक्षरों पर चिपट जायेंगे। यह तभी भाँप लिया होगा कि साथियों व अनुयायियों का स्वतंत्र चिंतन उससे कहीं अवरुद्ध न हो जाये।

किन्तु जो अपने आपको अनुयायी कहते और मानते हैं उनके पास तो परम्परा से संचित पूँजी होती है और वे उसीके सहारे चलते हैं। पर उनकी आस्था आगे चलकर अंतर्ज्योति को खो बैठती है।

गांधी-शताब्दी के लिए जो तरह-तरह की तैयारियाँ की जा रही हैं, कहते हैं कि, उन सबका समावेश 'व्यक्त-उपासना' में होता है, जबकि 'अव्यक्त' की उपासना एवं साधना को क्लेश-साध्य माना गया है। सुना है कि व्यक्त-उपासना के रास्ते से भी अव्यक्त को पहुँचा जा सकता

संकल्प यदि बेबुनियाद हो ?

है। तब शताब्दी-उत्सव मनाने का यह विविध कार्यक्रम भी सहायक तो हो ही सकता है। गांधी के उन उद्देश्यों को साधने में, जो अव्यक्त हैं और अव्यक्त ही रहेंगे—अर्थात् सत्य, अहिंसा, मैत्री और करुणा जीवन की ऐसी पुख्ता बुनियादें हैं, जिनपर व्यक्ति, समाज तथा कोई भी राष्ट्र निःशंक खड़ा रह सकता है।

डर है कि तात्त्विक चर्चा में उतरकर हम इस सीधी-सी बात को किसी 'वाद' में न बाँध बैठें। गांधीने बिना किसी जीने के ऐसे आस-मानी महलों पर कभी चढ़ने को नहीं कहा था, जहाँ से ज़रा-सा पैर झुका कि धड़ाम से रसातल में जा गिरने का भय हो। जीवनभर गांधीने वही सब किया कि जो कुछ कहा, और कहा भी वही, जो सहज-सहज भीतर से निकला। टूटे घागों को उसने सदा जाड़ा कि हम सब मिल-जुलकर रहें। सचाई और प्रेम का रस लूटते-लूटते ही अपना मरण-महोत्सव उसने मनाया। प्रेम की डगरू पर चलते हुए हर शूल को फूल समझा। राजनीति को धर्म की दासी माना, और माना कि धर्म तो सर का सौदा है।

लगता है कि अन्तरिक्ष से मानों आजभी हमारे कानों में वही सिखावन गूँज रही है कि,

‘जहर का उतार जहर से नहीं होगा; आग आग से नहीं बुझेगी।’

यही रास्ता है कि जिसपर खुद चलकर औरों को भी चलने को गांधीने पुकारा था, और कितनेही साधक कार्य बताये और जुटाये थे, जो सभी रचनात्मक थे।

मन अक्सर पूछ उठता है कि किस रचनात्मक कार्य को हमने कब ईमानदारी से हाथ में लिया। प्रश्न है कि जो पूछा गया है, उसका जवाब देते हुए हम अपने आपको धोखा तो नहीं दे रहे हैं। हमारा संकल्प यदि बेबुनियाद और महज दिखावे का हो, तब तो यही अच्छा होगा कि साफ़-साफ़ अपना मत प्रकट कर दें कि गांधी के दिखाये मार्ग पर हमारा विश्वास नहीं, हमारी आस्था नहीं, और तब गांधी-जन्म-शताब्दी मनाने का कार्यक्रम कोई खास अर्थ नहीं रखता।

उत्तर चाहता है यह मौलिक प्रश्न

गांधी-शतसंवत्सरी ज्यों-ज्यों नजदीक आ रही है, त्यों-त्यों उसपर बार-बार कुछ-न-कुछ लिखते या कहते रहने की जरूरत मालूम देनी है। अपने-अपने ढंग से उसपर मोचा जा रहा है, लिखा जा रहा है और योजनाएँ भी बनाई जा रही हैं, सरकारी और गैरसरकारी दोनों ही स्तरों पर।

जहाँतक समझा है, गांधी का दिखाया मार्ग ऐसा है कि दूसरों को चलाने से पहले उसपर खुद चलना होगा। गांधीने आत्म-निरीक्षण पर बार-बार जोर दिया था। क्योंकि सत्य और अहिंसा की महिमा दूसरों के आगे तभी गाई जा सकती है, जबकि उनपर खुद अमल किया गया हो। कोरा प्रचार निष्फल ही नहीं, खतरनाक भी बन जा सकता है।

तब, सबसे पहले गांधी-स्मारक-निधि, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, हरिजन-सेवक-संघ, सर्व-सेवा-संघ जैसी संस्थाओं को देखना होगा कि उनके किसी-न-किसी कोने में कोई ऐसी चीज तो जाकर नहीं बैठ गई है, जो गांधी के दिखाये मार्ग में बाधक बन जा सकती है। उदाहरण के लिए :

गांधीने खादी को केवल आर्थिक अभाव की पूर्ति का साधन नहीं माना था, उसे असल में जीवन-शुद्धि का प्रतीक बताया था। तब सहज ही प्रश्न उठता है कि खादी के संगठन में उस उद्देश्य और उस प्रयोजन को सामने रखा जा रहा है या नहीं? दूसरे शब्दों में, खादी की भावना के प्रति खादी-संस्थाओं के पदाधिकारियों और कार्यकर्त्ताओं के चिन्तन और क्रिया पर आवश्यक निष्ठा है या नहीं?

गांधीने कहा था कि जिन मन्दिरों में देव-दर्शनार्थ हरिजन नहीं जा सकते, उनके अन्दर हमें भी पैर नहीं रखना चाहिए। 'गांधी' छाप-वाली संस्थाओं के संचालक इस नियम का स्वयं भी पालन कर रहे हैं या नहीं ?

हरिजन-सेवक-संघ को तो यह अच्छी तरह समझ लेना है कि गांधी-ने अस्पृश्यता-उन्मूलन का सच्चा और कारगर उपाय एक प्रायश्चित्त बताया था, जिसमें राजनैतिक या दूसरा कोई भी हेतु नहीं था। क्या प्रायश्चित्त को संघ सबसे बड़ा उपाय मानता है ?

इन रचनात्मक संस्थाओं के पदाधिकारियों और कार्यकर्त्ताओं को देखना होगा कि वे ऐसे क्लबों, पार्टियों और समारोहों में तो शामिल नहीं होते हैं, जिनमें आमंत्रितों को शराब पेश की जाती हो।

गांधीने इस बात पर बार-बार जोर दिया था कि अपने मनोभावों और विचारों को स्वाभाविक रूप में व्यक्त करने और राष्ट्रीयता को कायम रखने की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा को अनधिकार स्थान न दिया जाये। तब ये सारी संस्थाएँ देखें कि राष्ट्रभाषा हिन्दी और दूसरी प्रादेशिक भाषाओं में उनका रोजमर्रा का काम-काज हो रहा है या नहीं।

किसीभी सिद्धान्त को मनमुखी अपवादों से लाद देने और अस्तित्व के साथ समझौता करते रहने की अपेक्षा तो यह कहीं अधिक अच्छा होगा, कि ऐसे सिद्धान्तों का प्रश्न ही न उठाया जाये। जिन बातों पर अपना खुद का ही विश्वास न हो, उनका प्रचार यदि हम करते हैं, तो अपने-आपको धोखा देते हैं। गांधी-शतसंवत्सरी के वर्ष में क्या इस मौलिक प्रश्न का उत्तर हम दे सकेंगे ?

जन्म-शती आ रही है

गांधी-जन्म-शताब्दी मनाने की योजनाएँ बनाने का काम चार-पाँच वर्ष पहले शुरू हो गया था। बातों-बातों में तब से कई वर्ष निकल गये, पर यह नहीं कि इस बीच में कुछ हुआ ही नहीं। कुछ तो हुआ ही। अखिल भारतीय तथा प्रादेशिक स्तरों पर योजनाएँ बनीं। सरकारी और गैरसरकारी ढंग पर कार्यक्रम सोचे और आयोजित किये गये। विदेशों से भी गांधी-जन्म-शती मनाने के समाचार आ रहे हैं।

इस संदर्भ में मत होता है एक कल्पना करने का—यह कि गांधी हमारी आँखों के आगे, अचानक अन्तरिक्ष से उतरकर, खड़ा हो जाता है, और हम उसीसे पूछते हैं, “बापू, सौ वर्ष पूरे होने ही वाले हैं, जब तुम इस धरा पर उतरे थे। तुम्हारा ऋण हमारे ऊपर इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि उससे मुक्त नहीं हो सकते। हम तुम्हारी जन-शती पर तुम्हारी कुछ पूजा-अर्चना करना चाहते हैं। पर क्या और कैसे, कुछ सोच नहीं पा रहे। बापू, तब तुम्हीं बताओ कि हम क्या-क्या आयोजन करें।”

और, हमारी कल्पना का गांधी स्नेह बरसाता हुआ हमारी ओर देखता है, और संकेत करता है एक श्यामपट्ट की तरफ कि पढ़लो आँखें गड़ाकर इन पंक्तियों को :

“अस्पृश्यता ने हिन्दू-धर्म को उसी प्रकार विषेला बना दिया है, जिस प्रकार जहर की एक वूँद लोटेभर दूध को।”

“हिन्दू-धर्म पर कलंक लगानेवाला यह ‘मुझे न छुओ’ वाद एक घातक रोग है। यह केवल मन की जड़ता को और अंधे मिथ्याभिमान

जन्म-शती आ रही है

को ही प्रकट करता है। धर्म की भावना और नैतिकता के साथ इसका चारा भी मेल नहीं बैठता।”

“अस्पृश्यता हमारे जीवन को लगा हुआ एक अभिशाप है। जब तक यह अभिशाप लगा है, यही मानना पड़ेगा कि इस पवित्र भूमि पर जो भी दुःख हम भोगते हैं, वे हमारे इस घोर और कभी न मिट सकनेवाले अपराध के उचित दंड हैं।”

“मैं मदिरा-पान को चोरी और शायद वेश्यागमन से भी अधिक निन्दनीय मानता हूँ। क्या वह अक्सर इन दोनों बुराइयों का जनक नहीं है?”

“जो राष्ट्र मदिरा-पान के व्यसन का शिकार हो गया है, उसका सर्वनाश निश्चित है इतिहास में इसके प्रमाण मौजूद हैं कि इस दुर्व्यसन में फँसनेवाले राष्ट्र नष्ट हो गये हैं।”

“मदिरा-पान पर प्रतिबन्ध लगानेवाला कानून लोगों के अधिकार में हस्तक्षेप करता है—इस दलील में उतना ही दोष है, जितना कि इस दलील में कि चोरी पर प्रतिबन्ध लगानेवाले कानून लोगों के चोरी करने के अधिकार में हस्तक्षेप करते हैं। चोर धन-दौलत और दूसरी भौतिक वस्तुएँ चुराता है, जब कि शराबी खुद अपने और अपने पड़ोसी के सम्मान की चोरी करता है।”

“अंग्रेजी भाषा ने हमपर जो जादू का असर डाला है, वह अभी नष्ट नहीं हुआ है। उसके कारण हम भारत की, और उसके ध्येय की प्रगति में रोड़े अटकाते हैं। हम अंग्रेजी सीखने में जितने साल बिताते हैं, उतने महीने भी अगर हिन्दी सीखने में बिताने का कष्ट नहीं करते, तो भारत की जनता के लिए हमारा प्रेम निरा ऊपरी है।”

“अपनी मातृभाषा की अपेक्षा अंग्रेजी के प्रति हमारे विशेष अनुराग ने सुशिक्षित और राजनैतिक दृष्टि के वर्गों के तथा आम जनता के बीच एक गहरा खाई खोद दी है। अंग्रेजी के कारण भारत की भाषाएँ श्रीहीन

हो गई हैं। जबतक हम इस अनर्थ का निराकरण नहीं करेंगे, तबतक जनता की बुद्धि जकड़ी हुई रहेगी।”

और भी कई एक सतर्क थीं पढ़ने को, पर हम आगे नहीं बढ़ सके, वहीं पर ठिठककर रह गये। सोचने लगे, ये तीन कार्यक्रम ही कहाँ हम अभीतक पूरे कर पाये हैं ! यह भी लगा कि स्वतन्त्र होने से पहले जो लगन, जो उत्साह और जोश हमारे मन में था, वह जैसे धीरे-धीरे क्षीण होता गया, और उस क्षीणता का पता भी न चला। साधन जुटाने में हम पराश्रयी बन गये, और साध्य दिन-पूर-दिन धुँधला पड़ता गया। दलील-पर-दलील देने लगे कि तब का वह जमाना आज बहुत कुछ बदल गया है, और तब की वे परिस्थियाँ वैसीही आज नहीं रहों।

अस्पृश्यता-उन्मूलन का, प्रायश्चित्त का, अमोघ मंत्र हमने भुला दिया है। प्रायश्चित्त का तब सिर्फ नाम ले देते हैं, जब अस्पृश्यता (अपराध) कानून को भी काम में नहीं लाना चाहते। आँखों के आगे साधनों का धुआँ-ही-धुआँ छा गया है। हृदय या तो कठोर बनता जा रहा है, या फिर लापरवाह। तीव्र वेदना महसूस नहीं हो रही है, जिसने सबसे अधिक प्रेरणा दी थी अस्पृश्यता-उन्मूलन की दिशा में।

तब, कैसे हम गांधी-संवत्सरी मनायेंगे ?

मदिरा-पान की लत दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है, और ढीली-ढाली शराबबन्दी को भी हटाने-मिटाने का प्रयत्न हो रहा है। दलील दी जाती है कि शराबबन्दी के कारण सरकारी आय कम हो जाने से शिक्षा की, खासकर उच्च शिक्षा की, प्रगति हो नहीं सकती; जबकि गांधीने चिल्ला-चिल्लाकर कहा था कि, “इस पाप के पैसे से अगर शिक्षा की उन्नति होती हो, तब तो मैं जनता का अशिक्षित रहना ही पसन्द करूँगा।”

मगर, साथही, हमारा मुँह बन्द कर देने के लिए हमें अनुदान दे

जन्म-शती आ रही है

दिया जाता है कि उसे लेकर हम शराब के खिलाफ जहाँ-तहाँ प्रचार करते रहें।

एक नई शर्मनाक बात और। कई राज्यों ने, 'लाटरी' चला दी है प्रजा में 'जुआ' खेलने का रस पैदा कर दिया। गांधी-शताब्दी को या घृणित उपहार भेंट किया गया है।

तब, गांधी-संवत्सरी मनाने के हम सचमुच अधिकारी हैं क्या ?

और, गांधीने राष्ट्रभाषा हिन्दी की आवश्यकता और महत्व पर बार-बार जो अपना स्पष्ट मत प्रकट किया था, क्या उसपर आज ध्यान दिया जा रहा है सरकारी क्षेत्र में और गैरसरकारी क्षेत्रों में भी ? अंग्रेजी भाषा अपना शासन दृढ़ से दृढ़तर बनाती जा रही है, और उसने भारत के नक्शे में यूरोप-अमेरिका के सारे ही रंग भरने का निश्चय कर लिया है। दो प्रतिशत और अठानवें प्रतिशत जनता के बीच दरार-पर-दरार पड़ती जा रही है।

तब किस मुंह से हम गांधी-शताब्दी मनाने की बात कर रहे हैं ? हमारी कल्पना के चित्र-पट पर खड़े गांधी को हम आखिर क्या जवाब दें ?

लेकिन यह सारा तो निराशा से पैदा हुआ रोना है। किन्तु वास्तविकता के आगे आँखें कैसे बन्द की जायें ? कहा जाता है कि कभी-कभी निराशा से भी आशा के अंकुर फूट पड़ते हैं, और वास्तविकता सामने आ जाने से सोई हुई चेतना और शक्ति भी कभी-कभी जाग उठती है।

अच्छा हो कि गांधी-शताब्दी का बहुत लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम न बनाकर हम अस्पृश्यता-निवारण, शराबबन्दी और राष्ट्रभाषा की व्यावहारिक स्वीकृति इन तीन कार्यों पर अपनी सारी शक्ति को केन्द्रित कर दें।

जयन्तियाँ कैसे मनायें ?

दुनिया के चन्द महापुरुषों के जन्म-दिन और मरण-दिन प्रतिवर्ष आते और चले जाते हैं। यह क्रम भविष्य में भी जारी रह सकता है। इस सूची में, संभव है, कुछ नामों को आगे चलकर भुला दिया जाये और कुछ नये-नये नाम उसमें जोड़ दिये जायें। इतना स्पष्ट है कि दुनिया के उन दिनों को हम भूलते जा रहे हैं, जबकि ऐसे-ऐसे पृथिवी पर जनमे थे, कि जिन्होंने अपने प्रताप और आतंक से दशों दिशाओं को प्रकंपित कर दिया था, जो 'चक्रवर्ती' कहलाते थे, जिन्होंने लाखों को तलवार/के घाट पर उतारकर रक्त की नदियाँ बहाई थीं। ऐसों के भी जन्म-दिनों को काल-चक्र भुला दे सकता है, जो बिना सीढ़ी लगाये चन्द्रलोक में जा बैठने, हिमालय को धूर-धूर कर देने और समुन्दर को रेगिस्तान बना डालने का अभूतपूर्व दावा कर रहे हैं। तब कहीं वचे रहेंगे कोई जन्म-दिन और कोई मरण-दिन ?

पर अगर मानव की वेक्राव अवल को काल ने खुलकर न खैलने दिया, तो ऐसे कुछ स्मरण-दिन फिरभी टिके रह सकेंगे, और वे ही दिन सर्व-संहारिणी अवल को कावू में रख सकेंगे। वे दीन् दुनिया में उनके नाम पर याद रखे जायेंगे, जिन्होंने सत्य को, प्रेम को और करुणा को हजारों हाथों से आलिंगन दिया था। उनके जन्म-दिन असल में वे नहीं थे, जिनमें शरीर धारण कर वे पृथिवी पर उतरे थे। किन्तु वे ही उनके जन्म-दिन बनकर आये, जिनमें उन्होंने अपना शरीर छोड़ा था। दुनिया को उन्होंने जी दिया, जो आखिरी साँस तक दोनों हाथों लुटाया, उसका सारा लेखा-जोखा उसी दिन और उसके बाद आनेवाले दिनों में ही तो सामने आया।

जयन्तियाँ कैसे मनायें ?

शेष रहा क्या ? मुट्ठीभर मिट्टी या तो मिट्टी-में मिल गई, या फिर खाकर हो गई। भक्तों ने पीछे पत्थर और धातु की मूर्तियाँ बनाईं; चित्र खींचे, टांगे और उनपर मूल-चढ़ाये-और-भुक्त-भुक्तकर साथे टेके। स्तोत्र रचे गये और उनका पाठ किया गया। पूजा की तरह-तरह की विधियों को लेकर लड़ना-झगड़ना भी हुआ। स्मारकों की जमीन पर कभी-कभी खून भी बहाया गया। इस प्रकार पुण्यात्माओं के कितने ही स्मारक कालान्तर में 'विस्मारक' बन गये। उनके नाम पर जो निधियाँ खड़ी की गईं, वे नागपाश बन बैठीं। उनकी यादगार के कुछ अनुरूप कुछ अच्छे भी काम हुए, पर बहुत ही कम। अच्छे काम अक्सर उनके हाथों बन गये, जिन्होंने उन पुण्यात्माओं के जीवन में जलनेवाली ज्योति को कुछ-कुछ पहचान लिया था। उन्होंने तीसों दिन उनके जन्म-दिन और मरण-दिन मनाये, बिना किसी संगठन के और बिना किसी प्रोग्राम के। संगठन बनाया भी, तो बुनियाद उसकी त्याग और तप की चट्टानों पर रखी। सत्य और प्रेम और करुणा की सिद्धि से लिए दूसरी बुनियाद और हो भी क्या सकती थी ?

ठक्कर बापा का नाम हम उन महापुरुषों की छोटी-सी सूची में लिखा देख सकते हैं, जिन्होंने अपने जीवन में एक ही साधना साधी थी, और वह थी करुणा द्वारा प्रेरित जन-सेवा की। पर-दुःख देख और सुनकर भी जिनका हृदय द्रवित हो जाता है, और उसका निवारण करने के लिए जिनका पुरुषार्थ सदा जागृत रहता है, ऐसे महोत्माओं में निःसन्देह बापा की गणना सदा की जायेगी।

यह सही है कि करुणा से प्रेरित होकर कष्ट-निवारण या राहत का काम किया जाता है, पर महज राहत का काम ही करुणा नहीं है। कभी-कभी केवल दया को करुणा मान लिया जाता है। जिसके प्रति दया की जाती है, उसके दुःख का तात्कालिक निवारण तो हो जाता है या ऐसा होता है, पर उससे दुःख की जड़ कटती नहीं है। किन्हीं लोगों

को अस्पृश्य मानकर एक सार्वजनिक कुएँ से पानी नहीं भरने दिया जाता, किसी पोखरे का गन्दा पानी पीते देखकर उनकी दंशा पर दया आती है, और उनका वह कष्ट दूर करने के लिए उनकी बस्ती में एक अलग कुआँ खुदवा दिया जाता है। उन अस्पृश्यों को भी ठो पानी का एक अच्छा कुआँ मिल जाता है। पर इससे उनका असली दुःख क्या दूर हो जाता है ? आरम्भ में, एक विशेष परिस्थिति में, इस प्रकार की दया-भावना भी आवश्यक हो सकती है, पर वही सब कुछ नहीं है। बापा ने अनेक प्रकार के समय-समय पर, देश के कोने-कोने में जाकर राहत के, पर-दुःख-निवारण के, विविध कार्य किये थे। जहाँ भी कोई संकट आता, बापा 'गरुड़-वेग' से तत्काल वहाँ पहुँच जाते थे। पर अर्थ इसका यह न लगाया जाये कि राहत-काम को ही वे सब कुछ मानते थे, या उनकी प्रगति का कदम वहीं पर रुक गया था।

किसी भी महापुरुष की मृत्यु के पश्चात् अपनी खुद की सुविधा और अपने बनाये विचारों के अनुरूप यह मत बना लेना उचित नहीं कि वह महापुरुष अपने विचारों में कोई हेर-फेर नहीं कर सकता था, और आज भी यदि वह जीवित होता तो उसके वैसेही विचार हम पाते, जैसे कि उसके मृत्यु-समय तक थे ऐसा सोचना यह तो उसके विचारों पर जड़ता का आरोप करना हुआ। सत्य सदा चेतन होता है, जड़ नहीं; और इसी प्रकार प्रेम और करुणा भी। यह मानना बहुत सही नहीं कि बापा या कोई अन्य ऐसाही महापुरुष यदि आज जीवित होता, तो वह वैसा ही सोचता और वैसाही करता, जैसा कि वह तब सोचता और करता था, और आज की तरह न तो वह सोचता और न ऐसा करता। गांधीजी ने सत्य के एक के बाद एक प्रयोग अपने जीवन में किये थे। एक बार तो उन्होंने यहाँ तक कहा था कि यह अच्छा होगा यदि मेरे सारे लेखों और कथनों को मेरी चिता पर रखकर जला दिया जाये, जिससे भविष्य में लोग उनका मनचाहा अर्थ निकालकर अपनी खुद की बुद्धि को कुठित और जड़ न बना लें।' किन्तु इस प्रकार की आशंका

जयन्तियाँ कैसे मनायें ?

बापा के लिए शायद ही की जा सकती है, क्योंकि उन्होंने न तो बहुत भाषण दिये थे और न अनेक लेख ही लिखे थे। उन्होंने जो कुछ सत्य और करुणा से प्रेरित होकर किया, वही उनकी भाषण था और वही उनका लेख था। उनकी जीवन-भर की कृति में उनकी उत्तरोत्तर प्रगति को देखा जा सकता है। निर्भयता का ऊँचा विकास उन्होंने किया था। साम्प्रदायिकता तथा प्रांतीयता से वे बहुत दूर रहे। हृदय उनका बालकों के जैसा सरल और मधुर था। हठ पर अड़ जाते थे, और जल्दी उसे छोड़ भी देते थे। एक-एक साँस का चौकम हिसाब रखते थे। आलस नहीं था, कोई गफलत नहीं थी, कोई भेद नहीं था, कोई दुराव नहीं था। साहित्य की भाषा में कहा जाये तो, बापा सदा 'अभिधा' में बोलते थे, कभी 'लक्षणा' या 'व्यंजना' में नहीं। ऐसे मनुष्य के जीवन की प्रगति मंगल दिशा की ओर बढ़ने से कैसे रुक सकती थी, और कहाँ रुक सकती थी ?

सो, ऐसे महापुरुष का जन्म-दिन २६ नवम्बर को पड़ता है बतौर एक रस्म के दूसरे कई जन्म-दिनों की तरह, यह दिन भी बापा के हाथ से खड़ी की गई दो-चार संस्थाएँ मना लेती हैं, उनको कुछ याद भी कर लेती हैं।

उस करुणा को, जिसके बापा एक प्रतीक थे, हममें से कितने उस दिन याद करते हैं, और जीवन में उसे उतारने का क्या कुछ प्रयत्न भी करते हैं या उस दिन कम-से-कम वैसा कोई संकल्प भी लेते हैं ?

मन शंकाशील इसलिए होता है कि दुनिया इने-गिने युग-पुरुषों की पंक्ति में आनेवाले गांधी द्वारा दिखाया हुआ रास्ता हम उसीके देशवासी निर्लज्जतापूर्वक पग-पग पर छोड़ते चले जा रहे हैं, पर अपना स्वार्थ साधने के लिए उसके नाम की दोहाई भी देते रहते हैं। गांधी के रचनात्मक कार्यों की शरीर-सम्पत्ति बड़ी हुई देखने में आती है, पर स्वास्थ्य की हालत क्या है ?

श्रद्धा और पूजा में जैसे जड़ता पैठ गई है। सामने निराशा खड़ी है। रास्ता तो है, मगर सूँझ नहीं रहा। उसपर ठीक तरह से जमाकर पैर रखना रोज-रोज हम भूलते जा रहे हैं। हालत यह है। 'फिर भी गांधी और बापा के और दूसरे महापुरुषों के जन्म-दिन, एक रस्म अदा करने के लिए, मना लिये जाते हैं। तब तो उनके होते हैं, पर फ़ेम या चौखटे होते हैं हमारे अपने खुद के।

सुनते हैं कि कभी-कभी निराशा की ज़मीन में से भी आशा के अंकुर फूट पड़ते हैं। सिखाया गया है कि, 'फिर निराशा क्यों?' ऐसी दशा में सारे जगत् की, सारे देश और समाज की बात को फिलहाल एक तरफ़ रख दिया जाये, और हम खुद, एक व्यक्ति की तरह, उस रास्ते पर क़दम रखें, जिसे बनाया है बापू और बापा-जैसे हमारे युग के महात्माओं ने। उनके जन्म-दिन और मरण-दिन मनाने की यही एक रीति कुछ-कुछ हो सकती है।

गांधी का कीर्ति-ध्वज

ताज़ा रक्त से रंगे उस हाथ पर श्वेत कपोत थर थर काँप रहा था। कपोत का एक पर तो कल काटकर फेंक दिया गया था, और उसका दूसरा पर आज, अभी-अभी। वह हाथ परकटे कपोत को अब भी सत्य और शान्ति का वाहक मानता था। चाहता था कि ऊँची उड़ान लेकर विश्व के कोने-कोने में वह शान्तिप्रद संदेश पहुँचा दे। सो वह उछाला गया कि उड़े, पर बार-बार ज़मीन पर आ गिरा तड़फड़ाता हुआ।

और, ठीक उसी तरह गांधी की कीर्ति को दुनिया के हर कोने में हम पहुँचना और फैलाना चाहते हैं कि हमारे रंग-रंग के भौतिक प्रयत्नों से धरती सारी घबल हो जाये, और आकाश में भी सत्य, प्रेम और शान्ति की ऊँची-ऊँची लहरें उठने लग जायें। क्योंकि गांधी की स्मृति और कीर्ति को हम अजर-अमर बनाने जा रहे हैं।

गांधी के कीर्ति-ध्वज को हम फहरायेंगे, पर अपने कुछ निश्चित विचारों के अनुरूप, जैसे,

गांधीने कहा था कि 'सत्य ही ईश्वर है।' यह व्याख्या हमें संतोष नहीं दे रही, यह सार्वजनिक भी नहीं है। इसमें ईश्वर का अस्तित्व सत्य का सहारा लेकर साबित किया गया है, जो अनावश्यक है। सत्य तो वह है, जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और अलग-अलग काल में हमारे अपने अनुरूप हो, और जिससे चाहे जब चाहे जितना लाभ उठाया जा सके।

अपने खुद के साँचे में ढाले सत्य को टिकाने के लिए अहिंसा

आवश्यक नहीं, स्थायी तो बिल्कुल नहीं। अहिंसा का अस्तित्व निश्चय ही हिंसा और प्रतिहिंसा की अपेक्षा रखता है जो कदापि अपेक्षा की वस्तु नहीं है।

माना कि गांधीने सत्य और अहिंसा की अपने ढंग से कुछ खोज की थी। किन्तु काल की चूँकि कोई सीमा नहीं, इसलिए बकौल गांधी के ही, किसीभी खोज को अंतिम या असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। गांधी के वे सारे प्रयोग ही तो थे। आज वे उपयोगी नहीं रहें। इसीलिए उन प्रयोगों में हमने सामयिक एवं वैज्ञानिक संशोधन किये हैं, और आगे भी करते रहेंगे।

तथापि गांधी के कीर्ति-ध्वज को हम दूर-दूर तक फहराता चाहते हैं। किन्तु जिस हवा के झोंके उसे फहरायेंगे उसका निर्माण हम स्वयं करेंगे। वायु और वायु-मंडल हमारा अपना होगा।

गांधी के रचनात्मक कार्यों की याद दिलाना, और बार-बार दुहाई देना कुछ खास अर्थ नहीं रखता, गांधी के अपने दिनों में वे विधायक कार्य भलेही उपयोगी साबित हुए हों।

गांधी के तब के हर किसी विचार या कथन का प्रमाण प्रस्तुत करना तो गांधी की जड़-पूजा है। गांधी के रचनात्मक विचारों और कार्यों को पलटकर ही हम गांधी की जीती-जागती पूजा करेंगे, और उसके कीर्ति-ध्वज को दिग्दिगन्त में फहरायेंगे।

पुरुषार्थ इसीमें है कि जिसे अपरिवर्तनवादी असंभव कहते हैं उसे संभव कर दिखाया जाये।

अतः हम श्वेत कपोत को, उसके पंरों को काटकर ही, उछाल-उछालकर उड़ायेंगे कि वह गांधी का संशोधित संदेश सारे विश्व में पहुँचा दे।

साधना

दो छोटी-छोटी पहाड़ियों के मध्य में था वह ऊँड़ ग्राम। घास-फूस और खपरैलों से छाये मटमैले घरों पर से साँझ की लालिमा ने अपना पर्दा हटा लिया था। नदी शान्त थी, और वृक्षों की छाया धुंध-लके में अब भी, उसके अंचल पर, कुछ-कुछ पड़ रही थी।

यात्रियों की लम्बी कतार गुज़र चुकी थी उस विशाल खण्डहर के सामने से, जो उसकी दीवारों पर खचित चित्रों को देखने आये थे। बहुतों ने उन चित्रों को अचरज से देखा था, और कुछ ने तो पुराशोध की दृष्टि से भी।

मगर कई आधुनिकों ने उन चित्रों के ऊपर नये-नये रंग चढ़ाने और अजीब-अजीब रेखाएँ खींचने का कौशल दिखाया था। उनकी दृष्टि में वे सारे ही भद्दे चित्र थे, कला से बहुत दूर। हाथ में दीपक लेकर वे चित्रों की ग्राम्य-नारियों को नई-नई वेश-भूषा से सँवार रहे थे—चित्रांकित नारियों के चेहरों पर शील की उभरी रेखाएँ देख-देखकर वे हँस रहे थे। कैसी भौड़ी मुख-मुद्रा और अजीब से परिधान हैं उनके।

चित्रांगनाओं के रूप और वस्त्राभूषणों पर उनकी तूलिका ने नये ही रंग भर दिये। चित्र में दिखाये जिस घर में नारियाँ गृह-कार्य करती चित्रित की गई थीं उसकी दीवारों पर कालिख पोत दी, यह दिखाने के लिए कि वे गृह-कारा से मुक्त हो गई हैं। उस रात्रि में वहाँ अजीब-सी कला-कृतियों और नये-नये प्रसाधनों के चित्र अंकित कर दिये गये।

भवन का विशाल खंडहर वही था, दीवारों भी वही थीं, मगर चित्रांगनाएँ वे नहीं रहीं, जिनको देखकर दर्शक गौरव और पावित्र्य का अनुभव करता था ।

एक दिन कुछ ऐसी साधिकाएँ मंगलकलश लिये वहाँ आ पहुँचीं, जिनके नेत्रों से तेजस् फूट रहा था । वातावरण सारा शील की सुगन्ध से भर गया । किन्तु दीवारों पर चित्रित जो वे देखने आई थीं, वहाँ वह नहीं था । उसके ऊपर सफेदी और कालिख पोते दी गई थी, और आड़ी-टेढ़ी लकीरें उन पर खींच दी गई थीं । देखते-देखते मिट्टा डाला उस विद्रूप नवीनीकरण को—उन तेजस्विनी नारियों ने, और वे चित्र फिर वैसे-कैसे उभर आये ।

चित्रित घर की दीवारों पर से उन्होंने कालिख को धो डाला और उनमें खिड़कियाँ और झरोखे बना दिये । दो चित्र और वहाँ उन्होंने खींच दिये—एक तो नील सरोवर का, जिसमें कमल पुष्प खिल रहे थे, और दूसरा एक ऐसे कुण्ड का जिसमें से अग्नि-स्फुलिंग उठ रहे थे । दोनों चित्रों के बीच ग्राम-सेविकाओं का भी एक चित्र उन्होंने बना दिया, जो शिशुओं, निराश्रितों और रोगियों की सेवा-सुश्रूषा कर रही थीं ।

आश्चर्य ! खंडहर वह जगमगा उठा । चित्रांकित दीवारों पर आलोक फैल गया, और अपने-अपने अनेक दिव्य चित्र वहाँ झिलमिला उठे । उन साधिकाओं का सशक्त नेतृत्व जो तपस्विनी कर रही थी, सामने के एक चित्र पर फूल चढ़ाती हुई, वह थीं वा—माँ कस्तूर बा ।

बापा का पावन स्मरण

हमारे जीवन में कुछ प्रसंग ऐसे आते हैं, जो याद नहीं रहते, और कुछ ऐसे होते हैं, जो कभी-कभी, याद करने पर, आँखों के आगे घूम जाते हैं। फिर कुछ ऐसे भी होते हैं, जो सदा ही याद बने रहते हैं, बल्कि जिनका याद रखना आवश्यक हो जाता है। यह बात जैसे प्रसंगों या घटनाओं पर घटती है, उसी प्रकार, और शायद कहीं अधिक चिर-स्मरणीय व्यक्तियों पर। कारण कि वे उन घटनाओं के साथ एकरूप हो जाते हैं। वे स्वयं एक संस्था बन जाते हैं, और प्रायः इतिहास के पृष्ठ भी। उनकी याद कभी बुढ़ाती नहीं, कभी मिटती नहीं। वह हर दिन नई और ताज़ा रहती है, इसलिए कि उनका छोड़ा हुआ काम किसी-न-किसी रूप में बाक़ी और जीवित ही रहता है।

ऐसे व्यक्तियों में निश्चय ही ठक्कर बापा का नाम लिया जा सकता है। दुखियों और पीड़ितों के कष्ट-निवारण के जिस कार्य को वे अपनी आखिरी साँस तक करते रहे वह अभी कहाँ पूरा हुआ है।

आदिवासियों, हरिजनों व दूसरे पीड़ित वर्गों का सेवा-कार्य अलग-अलग दृष्टि से देखा गया था, और आज भी वे भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ मौजूद हैं। कोई एक दृष्टि से ऐसे कार्यों की नाप-जोख करता है, तो कोई किसी दूसरी ही दृष्टि से। दृष्टि सांस्कृतिक हो सकती है, संगठनात्मक हो सकती है, राजनैतिक हो सकती है। बापा की दृष्टि विशुद्ध जन-सेवा की दृष्टि थी, जिसे सच्चे अर्थ में आध्यात्मिक दृष्टि कहा जा सकता है। बापा ने उस निर्मल दृष्टि को सहज पाया था। तब क्या उसका साधक कभी भुलाया जा सकता है ?

जन्म-तिथि बापा की २६ नवम्बर है, और पुण्य-तिथि है १९ जनवरी । इन दोनों तिथियों का संबंध केवल उनके शरीर के साथ जुड़ा है । इन दोनों तिथियों पर हम बापा की सिर्फ याद कर लिया करें, तो वह उनका सच्चा स्मरण नहीं कहा जायगा । ऐसा नाम-स्मरण तो मंहज औपचारिक होता है ।

बापा की भक्ति-भावना एवं धर्म-साधना का सेवा-कार्य तो हर दिन और हर घड़ी याद रखने का है । और स्मरण ऐसा, जो निरन्तर स्फूर्ति और प्रेरणा देता रहे उनके दिखाये मार्ग पर चलने और आगे बढ़ने के दलिए ।

क्यों और कैसे स्तुति कराये ?

भागवत पुराण में एक श्लोक आया है :

वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः ।

कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत् ॥

चौथे स्कन्ध के १५वें अध्याय का श्लोक है यह । पृथु कहता है-
“अबतक इस संसार में हम कोई श्रेष्ठ कार्य करके विख्यात नहीं हुए हैं-
तब बालकों की भाँति क्यों और कैसे अपनी स्तुति कराये ?”

विचार-मंथनपूर्वक राष्ट्र के श्रेष्ठजनों ने पृथु को चुना, और उसका राज्याभिषेक किया । तत्काल पृथु का अभिनन्दन करनेवाले चारण उसकी प्रशंसा के गीत गाने लगे । तब अतिशयोक्तियों से भरी अपनी स्तुति सुनकर महाराजा पृथु ने उनसे कहा :

“इस समय आप सूत लोग मेरे किस गुण का वर्णन कर मेरी स्तुति करेंगे ? मैं नहीं चाहता कि बिनाही किसी गुण के झूठे गुणों का आरोप कर आप मेरी प्रशंसा और स्तुति करें । वचन आप लोगों के बड़े मधुर और मनोहर हैं । पर इन मधुर वचनों को अभी तो कृपया आप अपने ही पास रखें । जो व्यक्ति मिथ्या गुणों की स्तुति सुनकर मुग्ध हो जाता है, वह अत्यन्त मन्दमति है । जो ऐसे वचनों को अपनी सचमुच प्रशंसा मान लेता है वह मूर्ख इतना भी नहीं जानता कि लोग उसपर हँस रहे हैं या उसकी प्रशंसा करते हैं । यथार्थ पौरुष का कीर्तन सुनकर भी उदार व्यक्ति को तो लज्जा ही आती है, और आनी ही चाहिए ।”

महाराजा पृथु के इन वचनों पर, और साथ ही, आये दिन तरह-
तरह के सङ्गठनों मान-पत्रों तथा जन्म-दिवसों पर आयोजित समारोहों,

‘रजत-स्वर्ण-हीरक’ जयन्तियों एवं अभिनन्दन-ग्रन्थों और पदारोहण पर ही जानेवाली बधाइयों पर ध्यान जाता है, तो लगता है कि अखिर हुआ क्या उस आयोजित दिन का, उस सहज शील का ? पहले राम, कृष्ण और बुद्ध के जन्म-दिन ही मनाये जाते थे । पर आज तो उनकी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है । जन्म-तिथि तो असंख्य में इस तथ्य की याद दिलाने के लिए प्रतिवर्ष आती है कि मृत्यु के नजदीक हमें एक कदम और पहुँच गये ! इसलिए पश्चात्ताप और प्रार्थना का ही यह दिल है कि अन्तर्क अच्छे काम करने में जो प्रफुल्लित हुई वह तो हो गई, पर आज से हम सावधान हो जायेंगे कि उन भूलों और बुराइयों को बार-बार न दोहरायें । इस दिन उत्सव मनाने या मनवाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं ।

इसी प्रकार क्यों नहीं इन्कार कर दिया जाता है कि मित्रगण मान-पत्र और अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रस्तुत करने की योजना कृपापूर्वक न बनायें । वे जानते हों या न भी जानते हों कि ऐसे-ऐसे अभिनन्दन और स्तुतियों से न तो उनके ‘श्रद्धेय’ का और न उनका खुद का ही कोई हित या उपकार होता है ।

कौन जानता है कि आज जिसके झूठे-सच्चे गुणों की प्रशंसा की जाती है, कल वही व्यक्ति कोई लोक-निन्दित कार्य कर बैठे और तब उसके प्रशंसकों को पछताना पड़े ।

असल में, ये सारे ही सम्मान और भाँति-भाँति के अभिनन्दन हमारे, गुण-विकास की प्रक्रिया में रुकावटें ही पैदा करते हैं ।

मृत्यु के पश्चात् किसीके अनुकरणीय गुणों को श्रद्धाभाव से भले ही याद किया जा सकता है, किन्तु उसके मूर्त अवशेषों का पूजन कदापि नहीं ।

काश, सुलेमान के इस वचन को सदा याद रखा गया होता कि,
‘किसीको सुखी या दुखी तबतक न कहो, जबतक कि तुम उसका अन्त न देखलो ।’

क्यों और कैसे स्तुति करायें ?

संगम विचार और क्रिया का

“जबकि विचार का कोई आकार नहीं, तब तुम क्यों बेकार अपने हाथों को यह चालना दे रहे हो ? क्या उसका निर्माण करने के लिए, या फिर उसका विध्वंस करने के लिए ? निराकार विचार पर, उसके बनाने या मिटाने में, तुम्हारे हाथ के सतत संचालन का आखिर क्या प्रभाव पड़नेवाला है ? विचार पर तो उसके अनुकूल और प्रतिकूल विचार का ही प्रभाव पड़ेगा । तुम क्या इतना भी नहीं समझते ?”

बेज-जैसे हाथों की ताकत पर विश्वास रखनेवाला वह कर्मि, जो बुरी तरह हाँफ रहा था, और जिसके माथे से पसीना टपक रहा था, सोचने लगा कि सामने खड़े इस व्यक्ति ने जो यह झूठ-पूछा कहा है, इसका असल में मतलब क्या है । सुना था कि जो ऐसी बात कहता है वह ज्ञानी होता है ।

और, वह उस चेतानेवाले या गलती सुझानेवाले की ओर आँख फाड़कर देखने लगा । बात कुछ तो जैसी कि विचार को, हाँ, विचार ही बना और बिगाड़ सकता है, और यह भी विचार का सचमुच कोई आकार नहीं होता । मगर क्या आकार की गति उसके आगे एकदम कुंठित हो जाती है ?

वह खूब समझता था कि समता एक विचार है, और विषमता भी विचार ही है । विषमता का उसने अत्यन्त भयंकर रूप देखा था, और उससे आतंकित भी हो गया था । उस विषमता को वह भुला नहीं पा रहा था । उस विचार का अपना कोई आकार नहीं था, और इसे वह

जानता था। किन्तु कल्पित विचार भी उसके देखते-देखते जहाँ-तहाँ फैल गया था। जड़ें उसकी साकार हो आई थीं। और वह उन्हीं जड़ों को खोदने, काटने और उखाड़ने में लगा था। उसकी हथेलियों में घट्टे पड़ गये थे, और साँस उसकी घुरी तरह फूल रही थी।

विचार को विचार से ही बदल देने अथवा बना या बिगाड़ देने की ताकत को उसने व्यर्थ नहीं माना था। उसको प्रचार भी उसने खूब किया था। उस आकारहीन समता की प्रतिष्ठा अब वह साकार सिंहासन पर करने जा रहा था। उसने देख लिया था कि रेसने और मिटाने-वाला विचार तभी प्राणवायु हो सकता है, जबकि वह किसी क्रिया पर प्रतिष्ठित हो गया हो।

और, वह फिर उसी अडिग श्रद्धा के साथ आकार धारण कर लेने-वाली उन जड़ों को खोदने, काटने और उखाड़ने में लग गया। —

उसकी दृढ़ आस्था देखकर ज्ञानी का चेहरा चमक उठा विचार और क्रिया का वहाँ सुन्दर संगम पाकर।

“पञ्चा तस्स न वड्ढति”

“मांसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्चा तस्स न वड्ढति” यह भगवान् बुद्ध का कथन है। अर्थ है, मांस तो उसके बढ़ रहे हैं, पर उसकी प्रज्ञा नहीं बढ़ रही।

शरीर यह रक्त और मांस से बना है। ये या तो घटते हैं, या फिर बढ़ते हैं। मांस को प्रयत्नपूर्वक भी बढ़ाया जाता है। वजन बढ़ाने के लिए भौति-भौति के उपाय किये जाते हैं। तराजू पर शरीर को तोला जाता है। तोलते पुराने जमाने में भी थे, पर केवल ‘तुला-दान’ के समय। शरीर की तोल के बराबर अनाज से लेकर चाँदी-सोना तक दान में दिया जाता था। एक ‘तुला-दान’ जवाहरात का भी कुछ साल पहले सुनने में आया था। तराजू जब बतलाती है कि दो, ढाई सेर या आधा भी सेर वजन शरीर का बढ़ गया, तब बड़ी खुशी होती है। मांस बढ़ाने के लिए दवाइयों का सेवन होता है, स्थान परिवर्तन क्रिया-जता है, और विदेश यात्राएँ भी।

इधर अब वजन घटाने की तरफ भी ध्यान गया है। मांस और चर्बी का बहुत अधिक बढ़ जाना जब अनेक रोगों का कारण समझा गया, तब वृद्धि में काट-छाँट की जाने लगी। इसके भी कई उपाय निकले। मगर यह तब हुआ, जब मांस-वृद्धि ने खतरे की घंटी बजा दी। कान खड़े हुए। घबराहट भी हुई। तब सुझाया गया कि अंग-अंग का जो मांस थल-थल होने लगा है, उसे घटाने और कसने का इलाज होना चाहिए। अतः आहार की मात्रा कम की गई। मधुर सचिकण रसों का श्रुतित्याग करना पड़ा, और आठवें या चौथे दिन तराजू पर

आंकना पड़ा कि वजन कितने पौण्ड कम हुआ है। काफी तकलीफ उठानी पड़ी। लेकिन चारा दूसरा नहीं था। खतरे की घंटी जो बज चुकी थी। समय पर चेतकरू ऐसा न किया होता, तो बड़े हुए मांस के बड़े-बड़े लौड़े खुद तो गिरते ही, सारे ढाँचे को भी गिरा देते। विनोबाजी कहते हैं “मनुष्य तो इतना ही देखता है कि शरीर का वजन किस तरह बढ़ेगा। वह इसी-की चिन्ता करता दीखता है, कि जमीन पर की मिट्टी उठकर उसके शरीर पर कैसे चिपक जाये, मिट्टी के लौड़े शरीर पर कैसे थुप जायें। आखिर इसका मतलब क्या कि इतनी अधिक मिट्टी चढ़ा ली जाये, इतना ज्यादा वजन बढ़ा लिया जाये कि शरीर उसका बोझ ही न सँभाल सके !”

बुद्ध भगवान् ने किसीके थल-थल करते हुए ही अनावश्यक मांस को देखकर यह गाथा कही होगी। आश्चर्य भी हुआ होगा कि उसकी प्रज्ञा क्यों नहीं बढ़ रही है। शरीर का फैलाव तो होता आ रहा है, पर विचार कुछ भी प्रगति नहीं कर रहा। यह कैसी बात है कि प्रज्ञा के कुंठित हो जाने पर भी, विचार में जड़ता आ जाने पर भी, मनुष्य अपने शरीर के बढ़ाव और फैलाव पर खुशियाँ मना रहा है ! वह स्वस्थ कहाँ है ? कौन उसे ‘स्व’ में स्थित कहेगा ? वह तो पूर्णतया ‘परस्थ’ है। वह उसमें स्थित है, जो उसका ‘अपना’ नहीं, उलटे उसका घातक है। ऐसे अप्राकृतिक बढ़ाव के धोखे में कौन जाकर फँसेगा ? किसका मन फूलेगा तन के ऐसे फैलाव पर ?

जीवन का ऊँचा आनन्द तो तभी है, जब प्रज्ञा की वृद्धि हो, विचारों का प्रतिक्षण विकास होता रहे। तब, जबकि हर क्षण चिन्तन होता रहे कि स्वस्थता की ओर जीवन प्रगति कर रहा है न, जिसके लिए शरीर का यन्त्र प्रकृति ने बख्शा है। वह यन्त्र चलते-चलते, घिसते-पिसते ही अपनी निदिष्ट उपयोगिता सिद्ध करेगा। अपने स्वाभाविक वजन पर लोहे के भारी-भारी बेकार टुकड़ों को यदि उसने लाद लिया, तो अपनी

“पञ्जा तस्स न वड्ढति”

उपयोगिता को वह उसी दिन समाप्त कर देगा। फिर ऐसी बेकार वृद्धि को अपनी स्वयं की सम्पदा वह माने ही क्यों ?

उसे उन राष्ट्रों पर भी घटाया जा सकता है, जिन्होंने भौतिक सम्पदा को तो बेहिसाब बढ़ा लिया है, परन्तु विचार जिनका कुंठित हो गया है। अतः सही दिशा में वे एकभी पग आगे बढ़ नहीं रहे हैं। जरा कल्पना की जाये ऐसे राष्ट्रों की, जहाँ तथाकथित भौतिक समृद्धि ने मनुष्य को नई-नई आवश्यकताओं और उनकी सतत पूर्ति की स्वर्ण-जंजीरों से सिर से पैर तक ऐसा जकड़ दिया है कि वह मांस तक नहीं ले पा रहा है। तरह-तरह के यन्त्र जहाँ उसके शरीर-यन्त्र को बेकार बनाते जा रहे हैं, दिल उसका वहाँ पत्थर बनता जा रहा है, और दिमाग में आविष्कार तो चक्कर लगा रहे हैं, किन्तु सन्तोष और शान्ति का स्थान बिल्कुल खोखला पड़ा है। वहाँ मानव ने मोटे-मोटे हाथ और पैर दूर-दूर तक फैला रखे हैं, मगर दिल उसका इतना छोटा हो गया है कि विश्वास और उदारता के लिए उसमें तनिक भी ठौर नहीं रहा। ऐसे राष्ट्रों के बचपने का कुछ ठिकाना, जो अपनी असीम भौतिक समृद्धि के बल पर सीना तानकर दावा करते हैं कि दुनिया में अकिंचन को सम्पन्न और असभ्य को सुसभ्य बनाने की उनमें भरपूर शक्ति है ! ऐसे राष्ट्र अपनी आत्मशक्ति को स्वयं ही नष्ट कर सर्व-संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण और संचय करते जा रहे हैं। इस प्रकार उनके अंग-अंग का मांस बढ़ता ही जाता है। पर क्या उनकी प्रज्ञा भी बढ़ रही है ? क्या उनके सम्यक् विचार भी कुछ प्रगति कर रहे हैं ? क्या ऐसे राष्ट्र वास्तविक अर्थ में 'स्वस्थ' कहे जा सकते हैं ?

ये राष्ट्र निःशस्त्रीकरण के उद्देश से कूटनीतिपूर्ण सम्मेलनों के आयोजन कर रहे हैं। शान्ति का भवन खड़ा करना चाहते हैं अविश्वास और संशय की बुनियाद पर ! खतरे की घंटी बज उठी है, इसीलिए बढ़ा हुआ कुछ जोस कम कर देना चाहते हैं। जो उपनिवेश उनके शरीर पर

लौंदों की तरह थुप रहे थे, उनको वे, मोहांसक्ति के रहते हुए भी, उतार-उतारकर कष्टपूर्वक फेंकते जा रहे हैं। ऐसा उन्होंने स्वेच्छा से नहीं किया। वेजन का घटाना अनिवार्य जो हो गया था। यदि पहले ही संयम की भावना उनमें रही होती, तो उनका जीवन आज स्वस्थ और समृद्ध होता। रोग पैदा होने पर बढ़े हुए वेजन को घटाकर दुबला हो जाना एक बात है, और आरोग्य की अवस्था में दूसरों का हित-साधन करते हुए तप द्वारा शरीर को कृश बना लेना बिल्कुल दूसरी बात है। उस कृशता में, उस परम स्वस्थता में, तेजस् तथा बल बढ़ता है, और कान्ति में कुछ भी अन्तरे नहीं पड़ता। अनावश्यक भौतिक-वृद्धि के अभाव में दुर्बल दिखता हुआ कोई भी राष्ट्र सत्य, विवेक और आत्मबल से युक्त पूर्ण समृद्ध और स्वस्थ कहा जा सकता है। वह दूसरों से उधार ले-लेकर या माँग-माँगकर वेजन को नहीं बढ़ाना चाहेगा। बेकार मांस को न बढ़ाकर वह अपनी प्रज्ञा को ही बढ़ायेगा।

विविध धर्मों एवं रचनात्मक कार्यों पर भी इस गाथा को घटाया जा सकता है। किसी भी धर्म के आरम्भ-काल को हम देखें, तो उसका रूप विशुद्ध और तेजस्वी देखने में आता है। यद्यपि उसका तब वह छोटा-सा रूप होता है, तथापि उस रूप में सारी तपःसाधना और विशुद्धि घनीभूत होकर रहती है किंतु जब वह अर्थ और सत्ता का आश्रय पाकर दुनिया में फैलता है, तब, शरीर-सम्पत्ति की व्यापक वृद्धि होते हुए भी, उसकी विशुद्धि और तेजस् क्षीण होने लगते हैं। आरम्भ-काल में जहाँ राज-मुकुट और रत्न-कोप धर्म के सामने झुकते हैं, तहाँ उसके वढ़ाव और फैलाव के दिनों में ऐसी भी घड़ी आ जाती है, जब उलटे धर्म को राज-मुकुट और रत्न-मंजूषा के आगे दैन्यपूर्वक झुकना पड़ता है। धर्म का अर्थ तब बदल जाता है। मठ-संस्था को तब राजसत्ता की अग्नीनता अस्तित्वार करनी पड़ती है, क्योंकि धर्म का मांस अनावश्यक रूप में बढ़ जाता है, और उसमें निहित प्रज्ञा अत्यन्त क्षीण हो जाती है।

“पञ्जा तस्स न बड्ढति”

विधायक कार्यों की भी, फैलाव की तृष्णा में, ऐसीही दुर्गति होती है। लोकाधार की उपेक्षा करके जब विधायक कार्य-राज-सत्ता और राज्य-कोष का आश्रय पा जाते हैं, तब भले ही ऊपर से उनकी शरीर-सम्पत्ति बढ़ी हुई देखने में आये, पर उनकी प्रेरक शक्ति प्रज्ञा कुंठित हो जाती है, विचार पंगु और जड़ हो जाता है। न चाहते हुए भी वे घातक चक्रव्यूह में फँस जाते हैं। फलतः स्वास्थ्य उनका नष्ट हो जाता है।

दयालु प्रकृति तब खतरे की घंटी बजाती है। उसे सुनकर अंतिम समय में वे चेत जा सकते हैं। बड़ा हुआ वेकार मोस फेंककर प्रज्ञा को बढ़ाने का, वैचारिक विकास करने का पुरुषार्थ वे रचनात्मक कार्य उस चड़ी भी प्रकट कर सकते हैं।

“जो घर जाले आपना”

कबीर साहब की एक साखी में ‘जो घर जाले आपना’ यह आया है। पूरी साखी है :

कबिसा खड़ा बाजार में,
लिये लुकाठी हाथ ।

जो घर जाले आपना,
चले हमारे साथ ॥

कहते हैं, “बाजार में खड़ा हूँ मैं, चौड़े में, जन-समूह के बीच में। हाँथ में मेरे धूल्ले में की अधजली लकड़ी है इस लकड़ी से जो भी खुशी-खुशी अपना घर-बार खाक करदे, वही मेरे साथ चल सकता है। कहाँ, किधर ? जहाँ कि मेरे साँई का ठौर है, उसी जगह, उसी लक्ष्य-स्थान पर ।”

खतरनाक साखी है यह। अक्षरों को पकड़नेवाला कोई सचमुच के घर को आग लगा दे सकता है। और, ऊँची आवाज से पुकारनेवाले कबीर पर गालियों की बौछार पड़ सकती है। तमाशबीन दूर खड़े-खड़े जलते हुए घर को देख-देखकर जहाँ खुश होंगे, तहाँ घर को फूँक देने-वाले की नादानी पर घर-कुटुम्ब के लोग बुरी तरह बरस पड़ेंगे कि किस पागल की पुकार पर लंका-दाह कर दिया इसने ! पर जो अपने आपको सयाना मानते हैं, वे ऐसी ‘घर-फूँक’—पुकार पर कहाँ ध्यान देनेवाले !

मगर कबीर ने कहा यह बिल्कुल सही है, ध्यान देने की चीज है यह। शतें यह है कि साखी के अन्दर का सही आशयभर समझ लिया जाये। घर से मतलब है यहाँ दुनिया की उन चीजों की आसक्ति से, याने लगावट से, जो जीवन के लक्ष्य-स्थान तक पहुँचने नहीं देती।

‘जो घर जाले आपना’

वह आसक्ति जो झुकझोरती रहती है दुर्विधा में, और डिगा देती है सच्चे रास्ते पर से। उस मीठी-मीठी लगावट के खिचाव से चित्त हमेशा डावाँ-डोल रहता है, और दिशा नहीं सूझती कि अपने खुद के रचे कोहरे को चीरकर असल में किधर जाना है। यही है वह घर, जिसे फूँक देने की सलाह कबीर साहब ने दी है।

चौक बाज़ार में चारों तरफ से घेर लिया है भीड़ ने कबीर को, सुनकर कि यह आदमी ऐसी जगह जा रहा है, जहाँ मुख-ही-मुख है, शान्ति-ही-शान्ति है। बाज़ार में जमा भीड़ को भी उत्साह हुआ, चाहें-हुई उसके साथ-साथ वहीं पर पहुँच जाने की। पर मन उस भीड़ का अन्दर-अन्दर उन चीजों की तरफ भी, साथ-ही-साथ, खिच रहा था, जिनकी मोहिनी, जतन करने पर भी, भुलाई नहीं जा सकती थी। मान-वङ्गपन की चाह, तरह-तरह के फलों की आस हर किसीको वहीं अपनी ओर खींच रही थी, और उधर अनजान जगह की कठिन मंज़िलें तय करने से रोक रही थी। ऐसी दुर्विधा की डावाँडोल हालत में पड़े थे वे सारे ही लोग। कोई फैसला नहीं कर पा रहे थे वे। जहाँ पर खड़े थे, वह जगह जानी-पहचानी थी, देखने में सुन्दर और मन को लुभानेवाली थी। मगर जिस जगह का वर्णन सुन रखा था, जिसकी तसवीर कबीर ने खींची थी, वह और भी ज्यादा सुन्दर और लुभावनी मालूम दे रही थी। चाहते थे वे कि जो चीज़ आँखों के सामने है उससे नाता न तोड़ा जाये, और जिस चीज़ के बारे में सुना है उसे भी हासिल कर लिया जाये। अंदर-अंदर ऐसे अजीब-से हिंडोले पर वे सब झूल रहे थे।

कबीर साहब उनके मन को भाँप गये। लगा कि इस भीड़ को जो चारों ओर जमा हो गई है, अब आखिरी फैसला कर लेना चाहिए। यही कि जीवन के सच्चे और ऊँचे लक्ष्य को अगर सचमुच पाने की चाह है, तो मोह और लोभ में फँसानेवाली आसक्ति में आग लगा देनी चाहिए। उस घर को, जो असल में उनका अपना नहीं है, फूँककर वे उस

घर में जा बसें, जो सचमुच उनका अपना है। पर जिसे वे भूल बैठे हैं, और जो घर उनको बार-बार प्रेम के संकेतों से बुला रहा है।

साखी में जो कहा गया है वह न केवल व्यक्ति पर, बल्कि सारे समाज पर, और इसी प्रकार राज्यों पर और लोक-संस्थाओं पर भी घटित होता है। इसे यों ही मजाक में न उड़ा दिया जाये कि इसमें जो घर फूँकने की सलाह दी गई है, वह निरी 'साधुक्कड़ी' सलाह है। मगर ऐसी सलाह देनेवाला यह साधु 'घरवाला' था, अन्ततः जिसने अपना काम-धन्धा नहीं छोड़ा था। पर एक तरकीब से उसने काम लिया था। घर को और काम-धन्धों को अपने-राम के गहरे रंग में रंग डाला था उसने। निराली तरकीब से घर में आग लगा दी थी, और आग की लपटों में से घर को बचा भी लिया था।

नई-नई योजना बनानेवाले आयोजक, तरह-तरह के कानूनों की बुनियाद पर राज्यों को खड़ा करनेवाले शासक, और विविध रचनात्मक संस्थाओं के द्वारा जन-सेवा का दावा करनेवाले सार्वजनिक कार्यकर्त्ता इस अनमोल साखी से सीखना चाहें तो बहुत-कुछ सीख सकते हैं। ये सभी आयोजक, शासक और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता—दुविधा की चूक की पाटों के बीच बुरी तरह पिस रहे हैं। जिन साधनों से वे काम ले रहे हैं, उनके सहारे उस लक्ष्य तक वे नहीं पहुँच पा रहे हैं, जहाँ पहुँचने की उन्होंने बार-बार घोषणा की है। लोक-शक्ति तक बगैर पहुँचे केवल देशी या विदेशी धन-राशियों के सहारे सच्चे अर्थ में किसी भी राष्ट्र को सुखी और समृद्ध नहीं बनाया जा सकता। सिर्फ कानून और सैन्य-शक्ति के आधार पर, जनता के साथ समरस हुए बिना, कोई भी शासन सफल नहीं हो सकता। इसी प्रकार अपने हाथ से की गई पुरानी और नई भूलों के लिए हृदय से प्रायश्चित्त किये बगैर सामाजिक शुद्धि के लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव नहीं। करोड़ों रुपयों और राज्य से प्राप्त यथेष्ट सहयोग के बावजूद समतामूलक रचनात्मक कार्य कभी साकार हो सकते

हैं ? विविध खोखले आयोजनों, कानूनों और सैन्य-शक्तियों तथा अर्थ पर आधार रखनेवाले कार्यक्रमों के प्रति जिस आसक्ति ने इन सभी क्षेत्रों में अपना घर बना लिया है, उसमें आग लगानी ही होगी, उसे फूँके बगैर निर्दिष्ट लक्ष्य की, मंजिले मकसूद की, लाख जतन करने पर भी, पहुँचा नहीं जा सकता ।

जो नेक सलाह आज से पाँच सौ बरस पहले कबीर ने दी थी, वही सलाह हमें कल गांधीने दी । हम लोगों की भीड़ ज़रा कान खोलकर इस सलाह को सुने । अच्छी लगे तो उसे अपना ले, उसपर चले, और सलाह ठीक न जँचे तो अनुयायियों की भीड़ साफ़-साफ़ कहदे कि वह तो उसी घर से चिपटी और लिपटी रहेगी, जिसे उसने अपना बना रखा है, उसमें आग लगाकर वह कभी नादानी नहीं करेगी ।

‘बेचहिं वेद धरम दुहि लेहीं’

गोसाईं तुलसीदास ने भरत के मुख से कहलाया है कि, ‘बेचहिं वेद धरम दुहि लेहीं।’ अर्थ गहरा है इस कड़ी का। शब्दार्थ तो इतना ही है इसका कि जो लोग वेद को बेचते हैं, और धर्म का दोहन करते हैं, वे पाप कमाते हैं। भरत शपथपूर्वक कौशल्या माता से कहते हैं कि यदि श्रीराम को वन भेजने में मेरी कुछ भी सहमति हो, तो मुझे वह घोर दुर्गति प्राप्त हो, जो वेद बेचनेवाले और धर्म का दोहन करनेवाले की होती है।

वेद का अर्थ यहाँ केवल चार मंत्र-संहिताओं तक सीमित न किया जाये। असली आशय तो वेद का सम्पूर्ण सद्ज्ञान से है, जिसके सहारे मानव-जीवन का सर्वोच्च उद्देश सफल होता है। तब ऐसा ज्ञान, ऐसा सद्बिचार क्या बेचने की वस्तु है? जो वस्तु सर के मोल खरीदी जाती हो, उसे कोई क्यों बाजार में बेचने जायेगा? ज्ञान को जो बेचता है, वह घोर पाप का भागी होता है। इसी प्रकार, जो सत्यमूलक धर्म का दोहन करता है, उससे अपना स्वार्थ साधना चाहता है, बेजा फ़ायदा उठाना चाहता है, वह भी घोर पाप का भागी है।

तप और शील के साधनों से उपलब्ध विचार-अमृत अपने पास संतकर रखछोड़ने की भी वस्तु नहीं है। वह तो दोनों हाथों उन सबको लुटा देने की वस्तु है, जो जान या अनजान में मृत्यु से सदा भयभीत रहते हैं। मृत्यु से, याने भेद-भावना से, विषमता से। ऐसों को सत्यमूलक ज्ञान अर्थात् समता का संजीवन-रस सदा पिलाना है, बिना मोल पिलाना है। उसका मोल कैसा? वह कदापि खरीद-फरोख्त की चीज नहीं रही।

‘बेचहिं वेद धरम दुहि लेहीं’

माता का अनमोल दूध क्या कभी बेचा-खरीदा गया है ? समत्व-विचार का दुग्धामृत तो माता के दूध से भी कहीं अधिक अनमोल है । समता-संचारक अमृत-रस तप तथा जीवन-मंथन से ही प्राप्त हो सकता है । बुद्ध, महावीर और कबीर ने, और इसी प्रकार रामकृष्ण एवं गांधीने भेद-भावना का मारक समता-संजीवन-रस प्राप्त किया और उसे मुक्त हस्त लुटाया । विनोबा भी तो आज वही विचार-अमृत जन-जन को बाँट रहा है । इनमें से किसने वेद को बेचा था ?

‘चौरासी वैष्णवन की वार्ता’ में, जिसके रचयिता गोसाईं ‘गोकुल-नाथजी’ हैं, पद्मनाभदास नामक एक हरि-भक्त की वार्ता अर्थात् कथा आती है । यह कन्नौज के एक ब्राह्मण थे । जब भारत-भ्रमण करते हुए महाप्रभु वल्लभाचार्य कन्नौज पधारे, तब वहाँ पद्मनाभदास ने आचार्यजी का दर्शन किया, और उनके मुख से श्रीमद्भागवत का एक प्रसंग भी सुना । पद्मनाभदास ऊँचे व्यासासन पर बैठकर कथा बाँचते और बहुत-सारे श्रोता उनकी कथा सुनने आया करते थे । आचार्यजी का महाप्रताप देखकर वे उनके शरणापन्न हो गये । एक दिन महाप्रभु-जी के मुख से उन्होंने सुना कि श्रीमद्भागवत का जब पाठ किया जाये तब उसमें किसी भी प्रकार का हेतु नहीं होना चाहिए । प्राण भी निकल रहे हों, तो भी भागवत् का उपयोग उदर-पोषण के लिए नहीं करना चाहिए । महाप्रभुजी जब कथा कह रहे थे, तब पद्मनाभदास ने उनके आगे यह संकल्प कर डाला कि ‘आज से हरि-कथा कहकर मैं उदर-पोषण नहीं करूँगा ।’

पद्मनाभदास के इस संकल्प पर आचार्यजी ने कहा, ‘अरे, यह तो तुम्हारी अपनी वृत्ति है, तुम ब्राह्मण हो, इसलिए महाभारत आदि की कथा बाँचकर अपना निर्वाह कर सकते हो । हाँ, श्रीमद्भागवत को उदर-पोषण का साधन नहीं बनाना ।’

‘पर महाराज ! मैं तो कथामात्र का संकल्प कर चुका हूँ’ पद्मनाभदास ने दृढ़तापूर्वक कहा ।

‘तो गृहस्थ होकर तुम अपनी जीविका कैसे चलाओगे ?’

‘महाराज ! यजमानों के घर से भिक्षावृत्ति द्वारा मैं अपनी जीविका चला लूँगा’ पद्मनाभदास का विनीता उत्तर था ।

पद्मनाभदास अपने एक यजमान के घर पर पुरोहिताई करने गये । यजमान ने उनका बड़ा आदर किया । फिर भी पद्मनाभदास के मन में ग्लानि हुई कि इससे पहले तो मैंने कभी भिक्षा नहीं माँगी थी, पर आज वैष्णव होकर भिक्षा माँगने के लिए निकला हूँ, यह मेरे लिए उचित नहीं है । पहले तो केवल जनेऊ ही गले में पड़ा रहता था, तब मैं भिक्षा माँग सकता था, पर अब तो गले में तुलसी की माला, पहन रखी है, अतः भिक्षा-वृत्ति से जीविका चलाना मेरे लिए अनुचित है । इसलिए उन्होंने पुनः संकल्प किया कि, ‘भिक्षा-वृत्ति से भी मैं अपनी जीविका नहीं चलाऊँगा ।’

आचार्यजी ने पूछा, ‘तब कैसे तुम अपनी जीविका चलाओगे ?’

पद्मनाभदास का उत्तर था, ‘महाराज ! वैश्य-वृत्ति से जीविका चला लूँगा ।’

हरि-भक्त पद्मनाभदास अब कौड़ियाँ बेचते, जंगल से लकड़ियाँ काटकर लाते और इस प्रकार मजूरी करके अपनी जीविका चलाते थे । जीवन के अन्ततक पद्मनाभदास अपनी इस टेक पर टढ़ रहे ।

इस हरि-भक्त की कथा-प्रसंग से क्या यह शिक्षा नहीं मिलती कि सद्विचार को, समता-प्रचार को, जीविका का साधन नहीं बनाना चाहिए ? वेद या भागवत के एक-एक पद में समत्व दर्शन के ही तो अभेदमूलक विचार भरे पड़े हैं ।

‘आये थे हरि-भजन को’

पूरी कड़ी या पंक्ति है ‘आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास’। कपास का ओटना वैसे कोई निरर्थक काम नहीं है। वस्त्र-उद्योग में कपास ओटने की प्रक्रिया काफ़ी महत्व का स्थान रखती है। पर हरि-भजन के मुकाबले उसे निरर्थक माना गया। ‘ओटन लगे कपास’ के स्थान पर यदि ‘खेलन लागे ताश’ कर दिया जाये, तो कहीं अधिक सार्थक होगा, हालाँकि ताश के खेल में मगन या मस्त हो जानेवाले खिलाड़ी ऐसे संशोधन पर नाराज़ हो सकते हैं।

असल मतलब कवि की युक्ति का इतना ही है कि अपने ध्येय को छोड़कर किसी ऐसे काम में पड़ जाना, जिसका ध्येय के सामने कुछ भी मूल्य न हो, बिल्कुल निरर्थक है और हानिकारक भी है। यद्यपि बुद्धि को घुमा-फिराकर चतुराई से यह साबित करने का प्रयत्न किया जा सकता है कि जिस किसी काम को निरर्थक माना या कहा जाता है, वह भी ध्येय की पूर्ति में सहायक होता है। ऐसे तथाकथित सहायकरूप काम को आगे चलकर ध्येय का जबरदस्त साधन मान लिया जाता है, और कभी-कभी तो वह साध्य से अधिक मूल्यवान् कहा जाता है।

अनेक धर्म-मजहबों और पंथों का इतिहास सामने है। एक महा-पुरुष दुनिया में आकर सत्य की खोज करता है। अपने समय की परिस्थितियों के उपयुक्त वह कुछ नियम भी बना देता है। मक्ति-भावना से कुछ लोग उसके उपदेशों की ओर खिंच आते हैं, और उसके अनुयायी हो जाते हैं। फिर उसकी शिक्षाओं को फेंकने के लिए वे अपना एक संघ बनाते हैं। संघ के चौखटे में उस महापुरुष की शिक्षाओं को

बांधने और कसने का वे उद्योग करते हैं। उसके द्वारा की गई सत्य की शोध का रंग तब धीरे-धीरे पलटने लगता है। उसके नाम पर संघ को अजर-अमर बनाये रखने के लिए सुविधा की दृष्टि से नये-नये नियम और उपनियम बनाये जाते हैं। उसके सुझाये त्याग और असंग्रह की रक्षा के लिए सम्पदा संग्रह की जाती; चल और अचल सम्पत्ति बढ़ने लगती है। तब उसकी भी रक्षा के लिए कुछ ऐसे काम करने पड़ते हैं, जो उम महापुरुष द्वारा की गई सत्य की शोध से बिल्कुल उलटे ही होते हैं।

मुक्त विचार का संगठन किया गया। उसे मनचाहा आकार दिया गया। और उसे स्थापित किया गया स्वर्ण सिंहासन पर, फिर उसकी रखवाली के लिए सशस्त्र पहरेदार नियुक्त किये गये। उधर हुआ यह कि विचार का देवता शायद हो गया, और बाकी रह गया स्वर्ण-सिंहासन और उसके पहरेदार। जिस किसीने आँखें खुली रखीं, वह बोल-उठा— 'मठ के जितने ही समीप तुम जाओगे, ईश्वर उतनाही दूर रहेगा।' पर जिनको जान-मानकर आँखें बन्द रखने में ही आनन्द आता हो, वे क्यों अन्तर के प्रकाश पर ध्यान देने लगे? उन्होंने अपना कपास का ओटना या ताश का खेलना हरि के भजन से पृथक् नहीं माना; उसके साथ उन्होंने पूरा मेल जो बिठा लिया है।

यों कपास ओटना—अगर उसकी सच्चाई और गहराई में उतरा जाये, तो कोई 'व्यापारेषु-व्यापार' नहीं है। कबीर जीवन भर ताना-बाना भरता रहा, और दादूदयाल ने धुनिया का धंधा किया। कपास भी आंटा था। रैदास जूते टाँकता रहा। नामदेव ने हजाराँ कपड़े सीये। धर्मदास ने बनिज-व्यापार किया। सदना का धंधा कसाई का था। और गांधी ने आखिरी साँस तक चर्खा चलाया। कौन कहेगा कि इन सबों ने हरि का भजन नहीं किया था। ओटने, धुनने, कातने और चुननेवाले इन बड़े-बड़े हरि-भक्तों ने हर घड़ी और हर पल हरि का

“आये थे हरि-भजन को”

भजन किया, हरि का ही ध्यान लगाया। उनके जीवन की हरेक क्रिया हरिमय हो गई थी। हरेक साधन साध्य में समा गया था। यात्रा का हरेक कदम आखिरी मंजिल बन गया था। तब कौन यह कहने या मानने की गलती करेगा कि उनका कपास का ओटना असंगत और निरर्थक रहा ?

कबीर ने कपड़े बुने। हाट-बाज़ार में जाकर धान बेचे भी। पर वह बुनना और बेचना निराले ही ढंग का रहा। जुलाहे का धन्धा परिग्रह की रस्सी से बंध नहीं सका। उलटे, उस जुलाहे के तानेबाने ने माया को ही बन्धन में डाल दिया, और वह साफ़ निकल गया। गांधी ने ऐसा-वैसा नहीं काता, बल्कि एक-एक तार में देश की नग्न आत्मा उसने देखी, और उसी धागे पर से वह भूतल पर राम-राज्य उतार लाने का ध्यान सदा लगाता रहा। दूर से देखनेवालों को लगा कि संस्थाएँ और मंडलियाँ इन अनेक धंधेवालों को फँसाकर रहेंगी। पर वे कहाँ फँसनेवाले थे, जो हर घड़ी चाहे जब संस्थाओं और आश्रमों को काँच के टुकड़ों की तरह तोड़ फेंकने के लिए तैयार रहते थे।

संत धर्मदास बनिया था। व्यापार करता था। पर उसका व्यापार असल में सत्य-नाम का था। वह गाता है—

हम सत्य नाम के व्यापारी।

हमने लावा नाम धनी का, पूरन खेप हमारी॥

पनिहारिन एक-दो नहीं, तीन-तीन, चार-चार गागरें, एक-पर-एक पानी से भरी सर पर रखे हुए आ रही है। अपनी सखी-सहेलियों से बात करती है, सर मटकाती है, नीची-ऊँची जमीन पर पैर रखती है, पर क्या मजाल कि एक भी बूँद पानी गागरों से छलक जाये। ध्यान क्योंकि उसका पानी भरी गागरों पर ही टिका हुआ है। बाहर की ये सारी क्रियाएँ गागरों पर से उसका एकाग्र ध्यान हटा नहीं सकतीं। सामने केवल उसका ध्येय है; वही उसका हरि-भजन है।

कबीर और कबीर-जैसों ने 'ताश का खेल' न सही, पर चौसर या ऐसेही कोई दूसरे खेल तो खेले ही होंगे। पर असल खेल तो उनका वह था, जिसे सैर की बाजी लगाकर खेला जा। गांधीने भी, सुकरात और ईसा की तरह ही, खेल खेला। तीन गोमलियों पर सर की बाजी लगा दी। ये सारे खेल हरि-भजन और हरि-ध्यान के ही विविध रूप थे। मतलब यह कि दृष्टि यदि ध्येय पर केन्द्रित हो, तो फिर कोई ताना मारनेवाला नहीं कि, 'आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास!' जब ऐसा नहीं होता है और उलटा ही, रास्ता, लक्ष्य का नाम लेकर, पकड़ लिया जाता है, तब चेतावनी की गूँची सदा, अगरे अन्दर के कान खुले हों तो, बार-बार आती है कि, 'उसी रत्न को खोजो, जिसके लिए तुम घर से निकले हो, क्यों बेकार कंकड़-पत्थर बटोरने में लग गये ?'

क्या ऊपर की यह मिसाल हम रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं को वैसीही चेतावनी नहीं दे रही है? हम देखें, ज़रा गहराई से देखें, कि जिसे काम का फैलाव और बढ़ाव मान लिया गया है, वह अन्दर से कहीं बच्चों के गुब्बारे की तरह निपट पोला तो नहीं है; और उसे आत्म-प्रशंसा की फूँकों से जो फुला दिया गया, वह हवा उसके अन्दर कबतक ठहरनेवाली है।

डर लगता है इतिहास के उन पन्नों को पलटकर, जिनमें लिखा है कि, जिसने जड़ों को छोड़ दिया उसका बढ़ाव और फैलाव बहुत टिक नहीं सका। अन्दर का रस सूख गया, तब फिर रहा ही क्या ? बढ़ना और फैलना बुरा नहीं, अगर मूल के साथ एकरसता कायम रहे; हर डाल और पत्तों में जबकि अन्तर का रस हर घड़ी झलकता-छलकता दिखाई दे।

क़ताई और बुनाई यदि यंत्रवत् चल रही है, आर्थिक मदद की बैसाखियों पर अगर वह खड़ी है, और उसके अन्दर से जीवन-दर्शन का

'आये थे हरि-भजन को'

वह रस सूखता जा रहा है, जो अहिंसा-शक्ति का स्रोत माना जाता रहा, तब उसकी गिनती संकोच के साथ ही रचनात्मक कार्यों में की जा सकती है। यही न्याय-हरिजनों तथा दूसरे पिछड़े वर्गों की सेवा-प्रवृत्तियों पर भी लागू होता है। रचनात्मक प्रवृत्तियों के महान्-वृक्ष की एक-एक डाल और एक-एक पत्ती में उस सत्य और अहिंसा का दर्शन होना ही चाहिए, जिसकी खातिर गांधी ने अपने जीवन का उत्सर्ग कर डाला।

देखना होगा और जल्दी ही देखकर चेत जाना होगा कि, जिसे हम प्रगति कहते हैं और जिसे बड़ाव-फैलाव मानते हैं, वह कहीं सही रास्ता छुड़ाकर भटका देनेवाली चीज तो नहीं है। अगर ऐसा है, तो अमृत को जिस सुनहरे ढक्कन ने ढाँक रखा है, उसे उठाकर फेंक देना होगा, ताकि उसका दर्शन और पान किया जा सके।

ये प्रतिमाएँ और ये चित्र

पाषाण-प्रतिमा बोलती नहीं है, और वह बोलती भी है। वह देखती नहीं है, और वह देखती भी है। वह प्रतिमा सुनती नहीं है, और वह सुनती भी है।

यही चित्र का भी है। वह न तो बोलता है, न देखता है और न सुनता है। और वह बोलता भी है, देखता भी है और सुनता भी है।

प्रतिमा और चित्र की पूजा भी तभीतक होती है, जब तक वे बोलते नहीं, देखते नहीं, और सुनते नहीं हैं।

प्रतिमाएँ और चित्र यदि बोलने लग जायें, और देखने लग जायें, और सुनने लग जायें, तो उनकी पूजा-अर्चना का अंत उसी दिन, उसी क्षण, आ जायेगा।

वे ऐसेही मूक रहें, ऐसेही अंधे रहें, और ऐसेही बधिर रहें, तभीतक उनका आदर है, और तभीतक उनका पूजन।

प्रतिमाएँ मन्दिरों में, बाग़ीचों में, महलों में और चौराहों पर स्थापित की जाती हैं। चित्र देव-स्थानों, प्रासादों, राज्य-कार्यालयों और सार्वजनिक संस्थाओं की दीवारों पर अंकित किये जाते हैं और जहाँ-तहाँ लटकाये जाते हैं।

प्रतिमाएँ अवतारों की, सन्त-महात्माओं की, और अनेक महापुरुषों की होती हैं। और, कलापूर्ण छोटे-बड़े चित्र भी उन्हींके।

समझ लें कि वे सब-के-सब बोलने, देखने और सुनने लग जायें, तो क्या होगा? तब प्रतिमा स्थापित करनेवाले और चित्र लटकानेवाले

ये प्रतिमाएँ और ये चित्र !

स्वयं अपने हाथों से तोड़ नहीं डालेंगे उन प्रतिमाओं को, मिटा नहीं देंगे या उतारकर फेंक नहीं देंगे उन चित्रों को ?

जिन भक्तों से प्रतिमाएँ कभी बोली थीं, उनको दर्शन दिये थे और उनकी भोली-भाली बातें सुनी थीं; उन्होंने साधना करते-करते अपने चोले को अन्दर-बाहर उन्हींके गहरे रंग में रंग डाला था। प्रतिमाओं में से तब उन भक्तों की खातिर क्यों न वाणी फूट पड़े, क्यों न उनके नेत्र खुल जायें और क्यों न उनके कर्ण-विवरों में सचमुच उनकी प्रार्थना सहज प्रवेश पा जाये ! क्योंकि ऐसीने प्रतिमाओं और चित्रों की स्थापना गृहों की सजावट के लिए नहीं की थी।

किन्तु कहाँ विचार किया जाता है राम की मूर्ति के सम्मुख कि प्रभु सर्वत्र, अणु-अणु में, रमा हुआ है ? विचार किया जाये, तो राम के लीला-चरित के विपरीत जाने की हिम्मत मूर्ति की स्थापना या पूजा करनेवाला क्या कभी कर सकता है ?

और, ऐसाही कृष्ण और शिव की प्रतिमाओं को संस्थापित करने-वालों के बारे में भी। असल में तो मन्दिरों की सुन्दर सजावट और प्रतिमाओं के नित-नये शृंगार और छप्पन ऋतुओं पर ही पुजारियों और दर्शनार्थियों की दृष्टि जा टिकती है।

इधर पिछले कुछ वर्षों में बुद्ध की मूर्तियों की ओर भी दृष्टि गई है। और तो और, सुसज्जित ड्राइंग रूमों में भी बुद्ध की ध्यानस्थ मूर्तियाँ देखने में आती है !

कंलेण्डरों और रंग-विरंगे विज्ञापनों में देवी-देवताओं के चित्र देखने में आ रहे हैं। कहने की बात नहीं कि वे चित्र असल में किनके होते हैं, पर नाम दिये जाते हैं सीता, राधा और पार्वती के, और राम, कृष्ण और शिव-शंकर के।

इस-युग के भी कई महापुरुषों और सबसे अधिक गांधी महात्मा की प्रतिमाएँ, पाषाण और धातुओं की, जहाँ-तहाँ खड़ी की गई हैं।

चित्र तो और भी अधिक । राज-भवनों, दफ्तरों, दूकानों और सार्वजनिक संस्थाओं की दीवारों पर गांधी के चित्र लटक रहे हैं—कहीं पर सादा और कहीं-कहीं पर कलापूर्ण काफ़ी कीमती चित्र । असर डालने के लिए इन अन-बोलते पुतलों और चित्रों का हर सही प्रलत मौके पर उपयोग भी किया जाना है ।

२ अक्टूबर, और ३० जनवरी को गांधी की मूर्तियों और चित्रों पर फूलमालाएँ चढ़ाई जाती हैं, जो कहीं-कहीं पर बारहों महीने बैसी-की-बैसी उनके गले में पड़ी रहती हैं ।

राज्य-सचिवालयों और दूसरे कई दफ्तरों में गांधी का ऐसा भी एक चित्र देखा गया है, जिसमें एक हाथ कुछ संकेत-सा कर रहा है । वह मुद्रा आशीर्वाद की तो नहीं हो सकती । वह तो 'वर्जन' करने की हो सकती है कि गांधी का नाम लेनेवाले बैसा कोई क्रदम् न उठाये, जो उस चित्र के सर्वथा विपरीत जाता हो ।

किन्तु जहाँ पर जिस कमरे में या जिस विशाल हाल में ऐसा चित्र लटका होता है, वहीं पर मंत्रणा होती है और योजना बनाई जाती है कि शराब के अधिक-से-अधिक ठेके देकर राज्य की आय कहीं तक बढ़ाई जा सकती है और शराबबन्दी के प्रश्न को किस प्रकार करारा धक्का दिया जा सकता है, क्योंकि शराब की आय से शिक्षा तथा जन-कल्याणकारी योजनाओं का प्रसार यथेच्छ किया जा सकता है । लोक-प्रतिनिधि समझते हैं कि चित्रांकित गांधी के हाथ की वह मुद्रा उनकी बनाई शराबखोरी और लाटरी की योजना के लिए 'स्वीकृति' का संकेत कर रही है ।

और ऐसेही चित्र की साक्षी में किसी दूसरे मंत्रालय में अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि पर विचार-विमर्श होता है । साबित किया जाता है तब अहिंसा की निरर्थकता को, और गांधी की उस हस्त-मुद्रा को 'बरदा-यिनी' मान लिया जाता है !

ये प्रतिमाएँ और ये चित्र !

पब्लिक स्कूलों की दीवारों पर भी गांधी के चित्र देखने में आते हैं, उन स्कूलों में, जहाँ पर आम जनता से रिश्ता तोड़ लेने की बहुव्यय-साध्य शिक्षा विदेशी भाषा के माध्यम से दी जाती है।

गैरसरकारी संस्थाओं में भी लगभग ऐसाही देखा गया है। आँखों के सामने तो गांधी का चित्र होता है, और ध्यान-पटल पर खचित शासन का वह वरद चित्र, जिसके आगे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता का अस्थाय हाथ अनुदान पाने के लिए फैला हुआ है।

गांधी के उसी चित्र की मौजूदगी में निर्भयतापूर्वक खादी और चरखे की उपेक्षा और आलोचना की जाती है।

ठीक उसी के सम्मुख मजाक उड़ाया जाता है प्रायश्चित्त की धर्म-भावना द्वारा अस्पृश्यता के निवारण का, और साम्प्रदायिक हालाहल के उन्मूलन का।

बिल्कुल विपरीत दिशा में जाते हुए भी न तो प्रशासन और न रचनात्मक संस्थाएँ ही गांधी के चित्र या प्रतिमा से सम्बन्ध तोड़ने के लिए तैयार हैं, क्योंकि वह सस्ती-से-सस्ती मूर्ति-सृष्टि का प्रकार है। चित्र के सामने 'कहो कुछ, करो दूसरा ही' खेल खेलने के लिए मैदान साफ़ मिल जाता है। पूरी आजादी है चाहे जो कुछ कर बैठने की झलती राह चलने की। क्योंकि मूर्ति बोलती नहीं, मूर्ति मुँह खोलती नहीं, मूर्ति की आँखें बन्द हैं; चित्र विपरीत कृत्यों को देखता नहीं, और चित्र के कान, कुछ भी कहो, सुनने के नहीं।

यह वास्तव की कौशलपूर्ण प्रचञ्चन स्वीकृति आखिर क्यों ? हिम्मत के साथ क्यों न प्रतिमा को उखाड़कर और चित्र को उतारकर किसी अंधेरी बन्द जगह में रख दिया जाये ? इससे मूर्ति या उस चित्र की मूल कल्पना के पीछे जो सत्य निहित है उसकी रक्षा तो पराक्षत हो जायेगी।

ये प्रतिमाएँ और वे चित्र प्रकट में बोलेंगे भी, देखेंगे भी और सुनेंगे भी, पर ऐसों के सामने जो हर तरह के—सरकारी और गैरसरकारी—तंत्र से अपने आपको मुक्त रखेंगे। प्रह्लाद ने प्राण से ही तो प्रकटाया था प्रभु को, और गजेन्द्र की आर्त्तपुकार भी उसके कानों में पहुँची थी।

सो, बाणी, नेत्र और श्रवण, प्रकट में न देखते हुए भी, प्रतिमाओं और चित्रों के होते हैं। मूर्तियाँ स्थापित करनेवाले और जहाँ-तहाँ चित्र लटकानेवाले हम लोग क्या इस मर्म को समझने का प्रयत्न करेंगे?

ये प्रतिमाएँ और ये चित्र !

‘दाम-बल’ का स्थान

भक्त सूरदास ने चार प्रकार के बल गिनाये हैं - ‘अप-बल, तप-बल और बाहु-बल, चौथो बल है दाम ।’ और, जिसकी गाँठ में इनमें से एक भी बल न हो, जो हताश होकर द्वार मान बैठे हो, उसका बल है केवल हरि का नाम ‘हारे को हरि-नाम’ ।

‘अप-बल’ याने आत्म-बल, ‘तपबल’ तपस्या का बल । और, तीसरा बल माना है ‘बाहु-बल’, शरीर-श्रम का बल । बाहु-बल का अर्थ सूरदास ने, दूसरों की तरह, ‘भुजदण्ड ठोंककर सामनेवाले के साथ लड़ना’ यह कभी नहीं सोचा होगा । अपने हाथों से परिश्रम करते हुए सुख आजी-विका चलाना, बाहु-बल से यही सूरदास का अभिप्राय रहा होगा ।

इन बलों के बाद चौथा बल माना गया है ‘दाम-बल’ अर्थात् रूपये-पैसे का बल । सबके अन्त में इसे स्थान दिया है । फिरभी यह अंतिम बल इतना अधिक चतुर है कि पहले के तीनों बलों को धक्का देकर सदा-सबसे आगे आने की ताक और जतन में रहता है । इसी बल को सबसे बड़ा और सदा प्रभावकारी मान लिया गया है । क्या घर, क्या समाज, क्या धर्म-स्थान सर्वत्र इसी बल का आश्रय हम ले बैठते हैं; यों कहने को नाम दूसरे बलों के भी अंगुलियों पर गिना देते हैं ।

कहा जाता है और प्रत्यक्ष दिखा भी दिया जाता है कि बिना दाम-बल के काम कहाँ कोई पूरे होते हैं । राज्य को समृद्ध बनाने की योजनाएँ ही नहीं, युद्ध की भीषण तैयारियाँ ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े यज्ञों के आयोजन, धर्मानुष्ठान और लोक-कल्याण-कार्य भी अर्थ-बल की ही अपेक्षा रखते हैं बिना दाम-बल के विशाल मन्दिरों में दिन में कई-कई

बार हजारों का छप्पन भोग भोगवान् के आगे कैसे रखा जा सकता है ? स्वर्ण और बहुमूल्य रत्नों से ही तो देवता की दर्शन-शोभा का मनोहारी वर्णन जहाँ-तहाँ किया जाता है । मठों, मन्दिरों और लोक-संस्थाओं की महत्ता भी तभी मानी जाती है, जब उनके अधिकारों में चल और अचल सम्पत्ति होती है, भले ही वहे सम्पदा उनके गले का नागपाश बत बैठी हो ।

माना जाता है कि अमुक धर्मों और पंथों का विकास और प्रसार तभी दूर-दूर तक हुआ, जब उनकी राज्यों के खजाने का और बड़ी-बड़ी थैलियों का आश्रय मिला । पर उस प्रसार और कहे जानेवाले 'विकास' का अन्त कैसे हुआ, इस पर शायद ही ध्यान दिया गया है । आत्म-बल और तप-बल से जिस ज्योति को जलाया गया था, उसके ऊपर जब 'स्वर्ण' की खोल चढ़ा दी गई, तब भी क्या वह ज्योति वैसी ही जलती रही होगी ?

बाहु-बल से, शरीर-श्रम से आजीविका अर्जित न कर स्वपुरुषार्थ से काम न लेकर बिना प्रयास के अर्थ-संचय पर आधार रखकर क्या कोई व्यक्ति या कोई समाज अथवा कोई संस्था अपने तेजस् एवं मूल उद्देश की रक्षा कभी कर सकी है ?

आत्म-बल और तप-बल के साथ किसी हद तक तो दाम-बल का स्थान हो सकता है, पर उसका रूप तब कुछ दूसरा ही होगा, और उसकी आवश्यकता मात्र उतनी ही होगी, जितनी शरीर-यात्रा के लिए हितकारी मित भोजन की होती है । बड़े-बड़े गुरुकुल भी छात्रों द्वारा घर-घर से लाये भिक्षान्न से चला करते थे । कल की ही बात है । गांधी हाथ फेला-फेलाकर एक-एक पैसा, एक-एक पाई, खादी और हरिजनों के हितार्थ संग्रह करता था न । अपने आखिरी वंसीयतनामे में वह लिखकर भी यही छोड़ गया कि रचनात्मक कार्य चलाने के लिए गरीब-से-गरीब भोंपड़ी से पैसा-पाई माँगा जाये । इस प्रकार दाम-बल भी,

'दाम-बल' का स्थान

स्वयं में स्वच्छ न होते हुए भी, अप-बल और तप-बल के सोहाग्रे से निर्मल बन जाता है

हम रचनात्मक कार्यकर्त्ता कहीं अप-बल और तप-बल की महिमा को न भूल जायें, और संत रैदास के भजन में कहीं 'नाम' की जगह 'दाम' रख देने का भद्दा संशोधन न कर बैठें। रैदास ने गाया था—
'अब कैसे छुटे नाम-रट लगी।' डर है कि कहीं हम इस भजन को इस प्रकार संशोधित रूप में न गाने लग जायें कि,
' "अब कैसे छुटे 'दाम-रट' लगी !"

एक साथ दो घोड़ों पर

एक असवार है, और दो घोड़े। यह नहीं कि सवार तो वह एक घोड़े पर है, और उसके साथ-साथ बराबरी से दूसरा घोड़ा खाली चल रहा है, और लगाम उसकी भी उसने हाथ में थाम रखी है। ऐसा तो अक्सर ही देखने में आता है। यह कोई नई बात नहीं। बात तो नई है यह कि वह असवार दोनों घोड़ों पर एकसाथ, और एकही समय, सवारी करना चाहता है। एक टाँग एक घोड़े पर और दूसरी टाँग दूसरे घोड़े पर रखकर। क्या ऐसा संभव है ?

म्यान एक है, और तलवारें दो। दोनों तलवारों को एकसाथ एक ही म्यान में रखने का मन है। क्या ऐसा हो सकता है ? यह नहीं कि एक बार एक तलवार को म्यान में रखा जाये, और दूसरी बार उसी में दूसरी तलवार को।

एक चेहरा है। एक साथ ही, एकही समय, चाहता है कि वह गालों को फुलाये, किसीपर गुस्सा दिखाये और साथ ही उसी क्षण खिल-खिलाकर वह हँसे भी। तो क्या इन दोनों मनोभावों को एक साथ प्रकट करना उससे बन पड़ेगा ?

उपदेश किया जाता है कि दुनिया में रहते हुए भी दुनिया से अलग रहो, जैसे जल के साथ कमल का पत्ता। लेकिन देखने में जो आता है वह तो ऐसा नहीं है। साथ-साथ कहीं दोनों बातें बनती हैं जबकि रहते हैं दुनिया में उसके गल-फन्दे में फँसे हुए, उसमें नाकतक डूबे हुए ?

दुनिया में रहना बुरा नहीं। फँसना और कभी-कभी डूबना भी पड़ जाये, तो उससे भी इन्कार नहीं। पर उसके साथ ही, यह कहना और

यह मान लेना कि उससे हम अलिप्त हैं, गोरख-धन्धों से हम अलग हैं और फंदों के बाहर हैं, कुछ जंचता नहीं ।

समझ में सीधे-तौर पर तो इतना ही आता है कि अलग-अलग, और अलग-अलग समय पर दोनों घोड़ों पर सवारी की जाती है । म्यान दूसरा नहीं है, तो एक में ही बारी-बारी से दोनों तलवारों को रखा जा सकता है । अन्तर देकर, 'मूड' को ज़रा बदलकर किसी व्यक्ति पर कोई चेहरा गुस्सा दिखा सकता है, और चन्द क्षणों के बाद किसी बात पर ठहाका मारकर वही हँस भी सकता है ।

शायद किसी बड़ी साधना से यह सम्भव हो सकता हो कि एकही समय पर किसी सरकार में प्रशिक्षण लेकर एक साथ ही दो घोड़ों को खूब सटाकर उनपर सवारी की जाये; तलवारें खूब रेत-रेतकर इतनी अधिक क्षीणकाय बनाली जायें, तो वे दोनों एक ही म्यान के पेट में समा भी सकें, और चेहरा कृपालु प्रकृति ने ऐसा अनोखा बना दिया हो कि गुस्से का भाव प्रकट करते समय भी गाल खिलें और होंठ हँसते हुए दिखाई दें । जैसा कि सुनते हैं कि घघकते अंगारों पर देवता से वरदान पाकर भक्त लोग नंगे पैर भी चल सकते हैं । वैसेही, दुनिया के विकट फंदों में एकसाथ फँसा जा सकता है, और उसी क्षण, बगैर दो-क्षणों का अन्तर डालकर, उससे विमुक्त भी रहा जा सकता है ।

अमली वेदान्त के प्रदेश में रहते हुए भी न रहना, बोलते हुए भी न बोलना, फँसते हुए भी न फँसना अत्युच्च साधना से फलित ये परम-सिद्धियाँ कदाचित् सुलभ हो सकती हैं । उलटबाँसियों के अर्थ पंडितजन सीधे-सीधे लगा लेते हैं, और दूसरों के गले भी किसी तरह उन अर्थों को उतार देते हैं । एक दिशा की ओर कथनी जाती है, और दूसरी दिशा की ओर करनी, तो भी उनमें समन्वय पंडित लोग बिठा ही लेते हैं ।

किस्ती महापुरुष का नाम बार-बार लिया जाता है हर मौके पर,

दूर प्रसंग पर। उसके उपदेशों की व्याख्या करने का भी अधिकार अपने पास सुरक्षित रखा जा सकता है। कहीं-कहीं पर उसकी सिखावन को इतना अधिक जटिल बना दिया जाता है कि अर्थ लगाने में बाल की झाल खींचनी पड़ती है, और ऐसा तब देखने में आता है, जब प्रकट में उसके उपदेशों से ठीक उलटी दिशा में व्याख्याकार स्वयं चलने लग जाता है। उसके नाम पर चलाये गये वादविशेष या पंथविशेष का वह अपने-आप को क्योंकि साधिकार व्याख्याता और अनुयायी मानता है, इसलिए उसकी ओर कोई उँगली उठाये, तो उसे वह बरदाश्त नहीं कर सकता। संसार के अनेक महापुरुषों के नाम पर चलाये गये वाद पंथ और उनके अनुयायियों के कुछ उलटे-सीधे कदम, उदाहरण के तौर पर, यहाँ रखे जा सकते हैं।

रचनात्मक कार्य सत्य और अहिंसा की बुनियाद पर खड़े हैं ऐसा कहा गया है। सत्य की सिद्धि तथा अहिंसा की अवतारणा के लिए माना गया था कि अर्थ एवं शासन की पराधीनता को स्वीकार न किया जाये। जो कुछ अपनी भूल से बिगाड़ दिया उसे स्वीकार कर अपने हाथों नीति और नम्रता का सहारा लेकर, प्रायश्चित्त की पवित्र भावना से, उसे सुधार लिया जाये। 'बिगाड़ना' और 'बनाना' इन दोनों को साथ-साथ न चलने दिया जाये। तुलसीदास के शब्दों में 'अबलों नसानी, अब न नसैंहीं', अर्थात् अब तक बिगड़ा सो बिगड़ा, पर अब नहीं बिगड़ने दूंगा। इन दोनों 'अब' के अन्तर को खत्म कर दिया जाये। घोषणा प्रकट में एक प्रकार से की गई, और अमल उसपर दूसरे ही प्रकार से, इन दो घोड़ों पर एक ही साथ सवारी न की जाये। सोते पुरुषार्थ को जगाया जाये, जिससे मुक्ति अपने-आप प्रकट हो जाये। इस विचार का साकार रूप देने के लिए कहाँ हैं आवश्यकता किसी संगठन की, किसी तन्त्र की, किसी अर्थ-बल की या किसी शासन के आधार की?

प्रत्यक्ष में आज सिद्धान्त के तौर पर भूल-सुधार, प्रायश्चित्त, तपः-साधना, नैतिकता, लोक-सेवा और अहिंसा के तो नाम भर लिये जाते हैं, किन्तु यात्रा की दिशा दूसरी ही पकड़ ली जाती है, कभी-कभी तो बिल्कुल ही उलटी । मगर दिखाया और मनवाया यह जाता है कि एक साथ सीधे-उलटे विचारों को लेकर, एक-दूसरे के विपरीत साधनों को जुटाकर, दोनों दिशाओं की यात्रा एकसाथ भी की जा सकती है ।

परन्तु प्रकृति विसंगति के दायरे में संगति को कैसे ग्रहण कर सकती है ? अर्थबल का बहुत सहारा लिया, शासन पर बहुत अवलंबित हुए, तो परिणामतः विकृत अर्थसिद्धि ही हाथ आयेगी । स्वपुरुषार्थ पंगु हो जायेगा । न तो तेजस् रहेगा, न नैतिक बल उठरेगा । तब अहिंसा और सत्य कहाँ साथ देनेवाले ?

दो घोड़ों पर तो क्या, एक पर भी सवारी नहीं बन पड़ेगी । दोनों तलवारें नंगी ही म्यान के बाहर पड़ी रहेंगी । एक साथ न गाल फुलाये जा सकेंगे, न खिलखिलाकर हँसा जा सकेगा; एक अजीब-सा अनोखा चेहरा बनाकर दोनों का स्वाँग भले ही भरा जाये । बफ़ादारी एक समय में एक लक्ष्य के प्रति ही हो सकती है ।

वह 'झोंपड़ी' ही चाहिए

द्वारकापुरी से सुदामा जब अपनी नगरी को खाली हाथ लौटा, तब उसके मन में इस बात का दुःख नहीं रहा होगा कि उसके मित्र कृष्ण ने उसे कुछ दिया नहीं, वहाँ उसकी केवल राजसी मेहमानदारी ही हुई। वह तो प्रभु का भक्त था। उसको पत्नी ने हठपूर्वक उसे द्वारका पठाया था। अपने ऐश्वर्यशाली मित्र से वह वहाँ कोई याचना करने नहीं गया था, क्योंकि अपने-आप में वह परमसंतुष्ट था।

परन्तु जब वहाँ से लौटा, तो अमित हो गया कि 'मेरी वह झोंपड़ी कहाँ चली गई !' उस स्थान पर खड़ा राजमहल देखकर वह घबरा गया। अपनी ब्राह्मणी को भी नहीं पहचान सका, जब वह स्वर्ण एवं रत्नों के आभरणों से लदी उसकी आरती उतारने सामने आ खड़ी हुई।

सुदामा डर गया कि यह अनर्माणा वैभव उसके हृदय में बँसनेवाली संतोष-निधि को, उसकी भक्ति-मणि को कहीं छीन न ले जाये। प्रभु से उसने प्रार्थना की होगी कि 'मेरी तो वह झोंपड़ी ही अच्छी थी, जहाँ बैठकर मैं तुम्हारा ध्यान तो कर लिया करता था। वह सम्पदा तो तुम्हारे नाम-स्मरण को भी भुला देगी।'

भगवान् का विराट् रूप देखकर अर्जुन भी काँप गया था। उस विश्व-रूप को अधिक देरतक वह देख नहीं सका। बोला—'हे विश्वरूप ! मैं तो पुनः आपके उसी मानवरूप को देखना चाहता हूँ !'

एक जमाना था जब दीन-दुखियों में जन-सेवक अपने नारायण को देखता था और बिना किसी आडम्बर के विनम्रतापूर्वक उसकी सेवा-पूजा करता था। श्रद्धा-भक्ति ही उसकी बड़ी-से-बड़ी पूजा सामग्री थी। या

वह 'झोंपड़ी' ही चाहिए

तो अकेला ही या कुछ मित्रों को साथ लेकर भोंपड़ियाँ डालकर बंध बँध जाता, और जो कुछ मिल जाता उसीमें मगन रहकर जन-सेवा करता था। वे पाँच-दस भोंपड़ियाँ सहज ही आश्रम का रूप ले लेती थीं। वह और उसके सहयोगी अकिंचनता, उर्पेक्षा और तिरस्कार को हँसते-हँसते सहन कर लेते थे। एक-एक मुट्ठी अन्न से या एक-एक पैसा-पाई से वह अपना काम चलाता था। उसका नारायण तब उसपर विश्वास करता था। ऐसा था वह जन-सेवक सुदामा।

किन्तु माया ठगनी को उसका यह दरिद्र जीवन पसन्द नहीं आया। उसने धकेलकर उसे राज-भवन के द्वार पर पहुँचा दिया। उसे स्मरण कराया गया कि उस भवन के स्वामी उसके बाल-सेखा ही तो हैं।

उसने देखा कि उसकी भोंपड़ी कहाँ चली गई और वह सारी सेवा-पूजा की सामग्री भी। वहाँ पर अब आलीशान भवन खड़े थे। चटाइयों की जगह गलीचों ने ले ली थी। सुन्दर फुलवाड़ी भी उसने वहाँ देखी। अपने ही पुराने साथियों को वह पहचान भी नहीं सका। परेशान था कि वहाँ पर यह कैसे हो गया! उसने देखा कि साथियों के चेहरों पर न तो वह तेज है, न उनके बाहुओं में वह पुरुषार्थ। ऊपर से समृद्ध दीखते हुए भी उसने उनका अन्तर दीन-हीन देखा, छूछा पाया। जनता से उनका सम्पर्क छूट चुका था। हर मौके पर वे राज्यकर्तारों का ही स्मरण और ध्यान करते थे। उनका नारायण भी अब उनसे दूर-दूर रहने लगा था।

सुदामा का सच्चा प्रतिनिधित्व करनेवाले लोक-सेवक बाज शायद ही कहीं दिखाई दें। हमारे ठक्करबापा की गणना निश्चय ही सुदामाओं में की जा सकती है। कितने सादा, कितने निराडम्बर, कितने सरल और कितने सच्चे। जाड़ों में शरीर पर पट्टू का बहीबीसियों थोकरेवाला लबादा पड़ा रहता था, जो पैंतीस वर्ष पहले सिलवाया था। दिल्ली में हरिजन-निवास के जिस मकान में रहते थे, वहाँ साथियों के बहुत कहने

पर फूलों के चार गमले भी नहीं रखने दिये थे। संस्था का एक-एक पैसा बहुत सँभालकर, अत्यन्त आवश्यक होने पर ही, खर्च करते थे। इस तथ्य को वे भलीभाँति समझते थे कि एक-एक पैसा किस प्रकार कितनी कठिनाई से संस्था में आता है। ऐसे दिनों में, ऐसे युग में आदिवासियों और हरिजनों की बापा ने सेवा की थी, जब मुसाफिरी में कष्ट-ही-कष्ट था। तब कहाँ इतने सारे आराम के साधन थे? मानों उन्होंने और उनके-जैसे उन दिनों के अनेक जन-सेवकों ने प्रती, जमीन को हाथों से तोड़ा था और अपने खून-पसीने से उसे सींचा था। आज के हम 'सेवक' नामधारियों को तो जुते-जुताये तैयार खेत मिल गये हैं और नहर का मुफ्त पानी भी। परन्तु उन क्षेत्रों में उन दिनों जो उपज हुई थी, उसमें अमृत-ही-अमृत भरा था।

शलत है कि सुदामा कभी राज-भवन को पसन्द करेगा। उसे तो अपनी वह भोंपड़ी ही चाहिए।

कहीं संतुलन न खो बैठें

तराजू की बड़ी महिमा है। उसका एक नाम धर्म-काँटा भी है। तुला क्योंकि यथार्थ का दर्शन कराती है। जरा-सा भी पसंगा वह सहन नहीं करती। इसी कारण उसका बार-बार बखान किया जाता है।

तराजू अपने आपमें तो सर्वथा सही होती है, पर उसकी डंडी पकड़नेवाला अक्सर अपनी चतुराई या कला से काम लेता है। वह दूसरों को, और अपने-आपको भी धोखा देता है। फिरभी तराजू की यथार्थता अपने-आपमें अक्षुण्ण ही रहती है।

या तो बढ़ाकर या फिर घटाकर कहने या बताने की आदत बना लेने से हम अपना संतुलन खो बैठते हैं, और वास्तविकता से दूर हट जाते हैं। कभी-कभी अनजान में भी, आदत बन जाने पर, हम बात को बढ़ा-घटाकर कह देते हैं—जान-मानकर तो, प्रायः रोख ही।

शलत तौर पर अपनी किसी बात को सही साबित करने के लिए 'छिद्रान्वेषण' से भी काम लिया जाता है, जबकि कहा यह जाता है कि हम तथ्य का अन्वेषण करने के लिए निकले हैं। चूँकि दृष्टिकोण तथ्यान्वेषण का नहीं होता है, इसलिए जहाँ-तहाँ खोज में छिद्र-ही-छिद्र दोख पड़ते हैं। कभी-कभी गुणों में भी दोषों का आरोप कर बैठते हैं, कारण कि दृष्टि दोषयुक्त होती है और वस्तु का रंग तब बदला हुआ मालूम देता है। तब तराजू को परे रख दिया जाता है, क्योंकि उसके पलड़े, जैसा कि चाहते हैं, वैसा काम देने से इन्कार कर देते हैं।

सस्ती राजनीति ने, जिसे स्वार्थ-नीति कहना अधिक सही होगा, संतुलन बिगाड़ देने में काफ़ी योग दिया है। वह बाध्य करती है कि

सफ़ेद को भी काला ही मानना चाहिए, क्योंकि जो वस्तु उसकी दृष्टि के सामने आती है, वह उसके अपने पक्ष की नहीं होती; या तो वह बाध्य करती है कि काले को भी सफ़ेद ही माना जाये।

सामने दो या तीन पक्षों के अखबार होते हैं, और उनमें हम परस्पर-विरोधी खबरें पढ़ते हैं। एक खबर दूसरी खबर को काट देती है। तब दुविधा में पड़ जाते हैं कि सही अखबार किस खबर को माना जाये—इसको या उसको? एक में बात को बढ़ाकर कहा गया है, और दूसरे में बहुत घटाकर या बिल्कुल उलटा ही। तब तो और भी कठिनाई में पड़ जाते हैं, जब कि हम सिर्फ अखबारों पर विश्वास रखने के आदी बन जाते हैं। तब सही तथ्य पर पहुँचना असंभव हो जाता है।

अस्पृश्यता को ही ले लें। ऐसे लोगों की बात को हम छोड़ देते हैं, जो अपने ही छोटे-से दायरे में रहते हैं, और मानते हैं कि समाज में अस्पृश्यता—जैसी कोई चीज है ही नहीं। पर जिनको अस्पृश्यता के संबंध की थोड़ी-बहुत जानकारी है, वे कहते हैं कि शहरों में तो वह आज कहीं खोजने पर भी नहीं मिलेगी। तब सोचना पड़ता है कि ऐसा मत किस आधार पर बना लिया गया है।

इसके विपरीत, जब यह कहा जाता है कि अस्पृश्यता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है, बल्कि यहाँ तक कि इधर इन पिछले कुछ बरसों के अन्दर वह और भी बढ़ गई है, तब सहसा इस बात को कैसे मान लिया जाये?

सही है कि जो पीड़ित और अपमानित होता है वह अन्यथा कुछ देख नहीं पाता। उसके जीवन में गुजरी हुई घटनाओं को हम झुठला नहीं सकते। किन्तु उसका अपना व्यक्तिगत संसार ही सारा संसार नहीं है। उसकी दृष्टि से अन्यथा भी हो सकता है, और है।

इसी प्रकार जिसकी सामाजिक बाधाएँ या नियोग्यताएँ हट गईं

कहीं संतुलन न खो बैठे

१०६

हैं, वह यह मान बैठता है कि समाज के किसी भी कोने में अब कोई नियोग्यता नहीं रही ।

यह कहना और यह मानना ही होगा कि काल उसी स्थान पर जमकर नहीं बैठा है, जहाँ कि वह पिछले पचीस-तीस साल पहले था । काल की गति का हिसाब लगाना आसान नहीं । कभी तो कहीं पर वह धीमी दीख पड़ती है, और कहीं-कहीं पर तेज और बहुत तेज । हमारी दृष्टि घूम जाती है काल की गति के आगे, और सहज ही हम माफ का संतुलन खो बैठते हैं ।

अतः जबकि सिंहावलोकन बराबर होता रहे और दृष्टि पर मोतिया-बिन्द न चढ़ने दिया जाये, तभी तराजू के सही संतुलन को क्रायम रखा जा सकता है ।

ये नारे और ये वाद

वयोवृद्ध नेता ने नौजवानों को डाँटते हुए कहा, 'नारे सत लगाओ, यह नारे लगाने का युग नहीं है।' हालाँकि तरह-तरह के नारे लगाना उसीने सिखाया था।

बात तो ठीक है। हमारे यहाँ कहाँ था यह चलन? बहुत करके या तो किसी देवी-देवता का लोग जयकार बोल दिया करते थे, या मुर्दों को श्मशान ले जाते हुए 'समनाम सत्य है' का नारा लगाने का चलन था। ये बहुत सारे नारे तो स्वातन्त्र्य-संग्राम के दिनों में उपजे थे।

'इनकलाब जिन्दाबाद' या 'क्रान्ति चिरजीवी हो' का नारा आज भी मौके-बेमौके बुलन्द होता रहता है। कामना की जाती है कि घड़ी-घड़ी पर, पल-पल पर, भूकम्प के जैसा विप्लव होता रहे। गनीमत है कि इनकलाब सिर्फ़ ज़बान पर ही रहता है। 'चिरजीवी क्रान्ति' का भैरव-निनाद गगन-मंडल में ही फूटकर बिखर जाता है, और हमारे जीवन का अजगर टस से मस भी नहीं होता।

विविध प्रकार के दार्शनिक वादों के हक़ में निस्सन्देह हमारे देश की भूमि बड़ी उपजाऊ रही है। खेत बहुत छोटे-छोटे थे। उन दार्शनिक वादों के समन्वय ने उनकी चकबन्दी करनी चाही, पर वह बहुत सफल नहीं रहा। जनसाधारण का उन विविध वादों से क्योंकि कुछ भी लेना-देना नहीं था।

पर इधर विराट् जन-जागरण के साथ-साथ जहाँ नये-नये नारों से कानों के परदे फटने लगे, वहाँ अनेक वादों या 'इज़्मों' का भी जाल बिछ गया।

और, साथही, एक तराजू भी सामने आई। हरेक क्षेत्र में सम-विषम व्यक्तियों और वस्तुओं की तुलना करने का अभिनव शास्त्र रचा जाने लगा। तुलना कर डाली गई शेक्सपीयर और कालिदास की, तुलसी और जायसी की, कबीर और रबीन्द्र की, और फिर लेनिन और गांधी की। तुलना की यथार्थता जाँचने के लिए वेद, उपनिषद् और त्रिपिटक पृष्ठों को बार-बार उलटना पड़ा।

सो, तरह-तरह के नारों, विविध वादों और नूतन न्याय-तुला का अनावरण हुआ नव-जागरण के युग में, और हमने उस सबका बड़ा स्वागत किया।

नारे आखिर क्यों लगाये जाते हैं? क्या इसलिए कि क्रियाशीलता और कर्मनिष्ठा की क्षीणता का पता न लगने पाये तुमुल कोलाहल के बीच?

और दार्शनिक वादों का आविर्भाव कब और क्यों हुआ था? तंभो न, और इसीलिए न कि जब तप और शील का आचरण दुर्गम प्रतीत होने लगा, तब उनकी छाया को तर्क के धागों से बाँधने और उलझाने का कौशलपूर्ण प्रयत्न किया गया?

इसी प्रकार तुलना की तराजू का भी कुछ ऐसाही इतिहास मिलता है। देखा कि भावना तथा तर्क चूँकि अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते, इसलिए पास और दूर की बँसाखियों का सहारा लिया गया।

नारे, वाद तथा तुलना इन तीनों के ही प्रयोग गांधी पर भी किये गये हैं

जयकार के बाद एक नया नारा निकला गांधी के पद-चिह्नों पर चलने का। लोक-नेताओं और सत्ताधारियों ने पग-पग पर इस नारे का उपयोग किया। अवश्य वे उसपर चलें, महात्मा का अनुगमन करें, पर संत्र-जाप और उसके विज्ञापन करने की भी जरूरत है क्या? पद-चिह्नों पर वे चलते भी हैं क्या? असत्य, द्वेष और लोभ की तरफ हाथ बढ़ाकर लम्बे-लम्बे डग भरना, क्या यही गांधी के पद-चिह्नों पर चलना है?

और, गांधी के नाम पर कोई नया 'वाद' चलाना आवश्यक है क्या? व्याकरण के पास ने भाषा के अंग-विकास को बहुत-कुछ बाधा ही पहुँचाई है। तर्क-जाल ने जीवने की शीलपरिणामी साधना को विमूढ़ और निश्चेष्ट ही प्रायः किया है। नया वाद या नया शास्त्र रचने के प्रयत्न को गांधी ने सदा निरुत्साहित ही किया था। किन्तु हुआ, और हो रहा है उलटा ही। हाथ में सत्य-अहिंसा की केवल सुमरिनी है। जिह्वा पर गांधी का केवल जय-जयकार है, और मस्तिष्क में 'धूम' रहा है वादविशेष।

और, जैसे एक नया पंथ बनता जा रहा है। उस दिन एक लोक-नेता ने कहा था कि अमुक व्यक्ति का चरित्र निस्संदेह बहुत ऊँचा और निष्कलंक है, परन्तु खेद है, गांधी-परिवार का सदस्य होने के लिए उतना काफी नहीं। मतलब, विशिष्ट शास्त्रीय लक्षणयुक्त मानव ही गांधी-परिवार का सदस्य हो सकता है।

गांधी-छापवाली संकीर्ण मनोवृत्ति को लेकर क्या कोई सर्वोदय की दिशा में बढ़ सकता है? किसी प्राकृतिक प्रवाह को बाँधकर उसके जल को क्या निर्मल रखा जा सकता है?

गांधी के दिखाये प्रकाश-पथ पर चलने के लिए राजनैतिक नारों की जरूरत क्या है? गांधी के नाम पर कोई वाद या पंथ खड़े करने की भी आवश्यकता है क्या?

इसी प्रकार अमुक व्यक्ति के साथ किसीकी तुलना करना भी आवश्यक है क्या?

विचार-मंथन

“आओ, बैठो, हमारी चर्चा में, भाई, तुमभी हिस्सा ले सकते हो। चर्चा यह सामान्य मनुष्य के हित में ही हो रही है। आज यह चौथा दिन है। तीनों दिन विचारों का मंथन काफ़ी हुआ है यहाँ। चर्चा ऐसी गम्भीर या उलझनभरी नहीं है, कि जिसमें हर कोई हिस्सा न ले सके। मगर समझ और धीरज चाहिए। ऊबकर बीच में ही उठ जाने से कोई लाभ नहीं होगा” विचार-गोष्ठी के एक सदस्य ने कहा रास्ते से गुज़रते हुए एक थके-माँदे शख्स से, जो या तो शायद खेत पर से लौट रहा था, या किसी कल-कारखाने से। और वह वहाँ बैठ गया असल में थोड़ा सुस्ताने के विचार से।

पाँच मिनट के बाद चर्चा फिर शुरू हुई, जो अधूरी छोड़ दी गई थी। उसमें जो लोग भाग ले रहे थे, उनमें से कोई तो अपना सिर खुजला रहा था और कोई जैसे कुछ गहरे में डूब गया था, और किसी के चेहरे पर विजय की स्पष्ट रेखा उभर आई थी, कि विषय को सही तौर पर उसीने समझा है, और सामनेवाले को मात दे दी है।

आखिरकार, इस बात पर वे सभी सहमत हो गये कि एजेण्डा में रखे गये प्रश्न अब उस बिन्दु पर जा टिके हैं, जहाँ लगभग यह कहा या माना जा सकता है कि वे ‘विचार करने-जैसे’ तो हैं, और सामान्य मनुष्य के हित में वे प्रश्न संभवतः अविचारणीय नहीं हैं।

वह राहगीर एक सामान्य ही मनुष्य था। मुँह बाकर वह उनकी ओर देखने लगा कि यहाँ यह सब क्या हो रहा है, किस बात पर बहस

चल रही है। समझ में उसकी/कुछभी न आया, जब चर्चा के दौरान सुना कि

“अहिंसा की हम भरपूर कद्र करते हैं, किन्तु उस अहिंसा की, जिसमें से ‘इतना कुछ’ निकाल दिया गया हो, और ‘उतना कुछ’ जोड़ दिया गया हो। ‘यदि’ जिसका अनुगामी हो, और ‘किन्तु’ हो जिसका अनुगामी, उसी विशिष्ट अहिंसा की हम उपासना और साधना करते हैं। अहिंसा और नैतिकता को कभी कड़वे तो कभी मीठे मखौल का भी विषय बनाया जा सकता है।”

“और, हिंसा की हम हर तरह और हर शकल में टोका करते हैं। उस घृणित आग से कौन अपना खुद का बचाव नहीं करना चाहेगा? ऐसे बचाव को नासमझों ने ही कायरता का नाम दे रखा है। यह ऐसा रहस्य है, जिसे आम आदमी भी खोल सकता है; पर खोलने की कुंजी तो हम विचारक लोग ही उसे प्रदान करते हैं।”

“कुछ भी तो समझ में नहीं आ रहा, क्यों मेरा वक्त खराब कर रहे हो? मैं यह चला,” और वह उठने लगा।

‘बैठो, बैठो, क्यों उतावले हो रहे हो? विचार-चर्चा में भाग लेना यह खेत-खलिहान या कल-कारखाने का काम नहीं। सुनो, हम आसान भाषा में समझा देते हैं—

“अहिंसा और हिंसा, और इसी प्रकार असत्य और सत्य या नीति और अनैतिки के बीच सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अन्तर हमने माना है, जिसे तर्क के अणु-वीक्षण यंत्र से ही देखा जा सकता है। नंगी आँख से भला कभी किसीने उस अन्तर को देखा-परखा है? अन्तर वह ऐसा, जिसे तर्क के अक्षूक पैमाने से नापा जा सकता है, काटा या उड़ाया जा सकता है, और यह भी साबित किया जा सकता है कि उसकी व्याख्या के लिए ‘ऋण’ और ‘धन’ दोनों आवश्यक हैं, और अनावश्यक भी। तब क्यों न ऐसे सरल शब्दों में और आसान तरीके से उस निष्कर्ष पर पहुँचा

जाये, जहाँ वगैर क्रिया और प्रतिक्रिया के इन विषयों से सम्बन्धित विचार-चर्चा को चाहे जितना लम्बाया जा सकता है ।”

जी उसका अब बिल्कुल ऊब उठा । क्यों और-कबतक-इस गोरख-धन्धे में अपना काम का वक्त जाया करे वह ?

लेकिन वे तो अपनी जान में काम-काज की ही चर्चा कर रहे थे, पर उसमें इतना भी समझने की अक्ल न थी !

तथ्यों और आँकड़ों का कमजोर सहारा न लेकर चर्चा के उस छोर को वे अब छूनेवाले थे, जिससे विश्वव्यापी आर्थिक पहली का हल अगली गोष्ठी में वे निकालकर ही रहेंगे । बेकारों और बाकारों का अनावश्यक-अनुपात न खोजकर उत्पादन के गणित को वे एक नया ही मोड़ देनेवाले हैं, जो आश्चर्यकारक होगा ।

चर्चा इस सूत्र को पकड़कर शुरू हुई कि दूसरों के परित्याज्य परिग्रह को कष्टपूर्वक स्वयं अपने ऊपर ओढ़कर संयम और सादगी का पाठ उनपर कैसे लादा जाये । यह माना गया कि शांति-काल की अपेक्षा युद्ध-काल ऐसे श्रेष्ठ अभियान के हक में कहीं अधिक अनुकूल होता है, क्योंकि तब चिरकालीन मानवीय भावनाओं की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती ।

अजनबी आदमी भीचका-सा उनकी तरफ़ एकटक देखने लगा ।

एजेण्डा में और भी कई विचारणीय विषय थे, जिनका मंथन होना आवश्यक था । कहा गया कि जो लोग ऊँची सीढ़ियों पर खड़े हैं, उनको ज़रा भी नीचे उतरने का संकेत न दिया जाये, क्योंकि ऐसा करने से समाज के सामान्य उत्थान में खलल पहुँचेगा । मगर जो निचली सीढ़ियों पर हैं, उनको अत्युच्च शिखर के स्वर्ण-कलश का दर्शन करा दिया जाये, कल्पना की उंगलियों से वे उसका स्पर्श भी कर सकते हैं । यह बिल्कुल सही है कि ऊपर की सीढ़ियों पर खड़े लोगों की छाया से वे परमपावन हो रहे हैं । लेकिन वे कम अँकलवाले पावनता और

समानता के बीच जब भेद की लकीर खींच रहे हैं, तब क्या कहा जाये उनको ?

वह बेसब्र राहगीर उठकर खड़ा हो गया, पर हाथ पकड़कर उसे बिठा लिया गया ।

दूसरे कई प्रश्नों पर होनेवाली चर्चा अगली गोष्ठी के लिए स्थगित कर दी गई । पर सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न को नहीं टाला जा सका, और उसे विचारार्थ ले लिया गया । प्रश्न यह था कि सामान्य मनुष्य की परिभाषा क्या हो, यद्यपि ऐसा मनुष्य उनके सामने ही बैठा था ।

गहरे विचार-विमर्श ने उन सबको लगभग इस परिणाम-प्रस-पहुँचा दिया कि सामान्य मनुष्य वह है, जिसके हित के नाम पर कुछ सोचा या किया जा सकता है, जबकि वैसे विचार और क्रिया के साथ उसका दूर का भी ज़ास्ता नहीं होता । सरल शब्दों में यह कि सामान्य मनुष्य को हर मौके पर गिनती में तो शामिल कर लिया जाये, क्योंकि ऐसा करना लाज़िमी है, किन्तु प्रभु-सत्ता तो 'विशेष' की ही हर जगह मानी जाये ।

सामान्य मनुष्य से अब वहाँ और अधिक न बैठा गया । कभी समाप्त न होनेवाले विचारों को जो इन्द्रजाल वहाँ रचा और फैलाया जा रहा था, उसमें दिलचस्पी लेना उसे बिल्कुल नहीं रुचा । अपनी सामान्य बुद्धि से यह सचाई सुझाकर वहाँ से चल दिया कि, "तुम लोग यह मंथन आखिर किस चीज का कर रहे हो ? न तो यह दूध है और न दही, यह तो खालिस पानी है तुम्हारे पास बहुत सारा फालतू वक्त पड़ा है, पर मेरे पास नहीं । मैं तो ज़रा सुस्ताने के लिए ही यहाँ बैठ गया था । तुम निठल्लों ने मेरा कितना वक्त खराब कर दिया !"

प्रायश्चित्त

स्वातन्त्र्य-सिद्धि के लिए जिस प्रकार लोकमान्य तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' यह महामंत्र राष्ट्र के कानों में फूँका था, उसी प्रकार महात्मा गांधीने हिन्दूधर्म एवं समाज की शुद्धि करने के लिए एक बीजमन्त्र दिया—यह कि, 'अस्पृश्यता के रहते हिन्दू-धर्म जीवित रह नहीं सकता, अतः उसके उन्मूलन के लिए प्रायश्चित्त करना ही होगा ।'

पुराकाल में अनेक ऋषियों ने एवं बुद्ध और उनके परवर्ती साधु-संतों व समाज-सुधारकों ने अस्पृश्यता तथा जाति-भेद पर अपने-अपने ढंग से प्रहार किये थे । किन्तु गांधीजी का सचमुच यह अपूर्व वज्र प्रहार था, कि अस्पृश्यता के रहते हिन्दू-धर्म जीवित रह नहीं सकता । हिन्दू-धर्म से उनका आशय था समस्त मानवों के प्रति अमेद तथा मैत्री-भावना का साधनरूप धर्म । उस घलत रास्ते पर*से गांधीजी ने हिन्दू-समाज को पैर हटा लेने के लिए बार-बार चेतावनी दे-देकर कहा कि वह उसे एक दिन ऐसे अँधेरे गड्ढे में गिरा देगा, जो घृणा और द्वेष की दुर्गन्ध से भरा पड़ा है, जिसमें गिरकर मनुष्य हर घड़ी अपने-आपको बड़ा तथा ऊँचा मानकर स्वयं को धोखा देता रहता है । आँख खोल देनेवाली यह चेतावनी गांधीजी यों तो पिछले कई वर्षों से देते आ रहे थे, पर १९३२ के सितम्बर मास में यरवडा-जेल के अन्दर अपने प्राणों की बाजी लगाकर, दुनिया को कम्पित कर देनेवाले उपवास की घोषणा करते हुए अस्पृश्यता को जड़मूल से उखाड़ फेंकने का उन्होंने जो अडिग निश्चय किया, वह अभूतपूर्व था ।

भगवान् बुद्ध को जब सम्यक् संबोधि का प्रकाश मिला, तब उनके सामने ये चार 'आर्य सत्य' प्रकट हुए थे—१. दुःख, २. दुःखसमुदय अर्थात् दुःख का मूल कारण, ३. दुःखनिरोध, तथा ४. दुःखनिरोध के मार्ग या उपाय ।

गांधीजी के सामने भी इसी प्रकार सत्य इन चार रूपों में प्रकट हुआ १. समाजव्यापी द्वेषाग्नि, २. उसका मूल कारण मिथ्या अहंकार, ३. द्वेषाग्नि का विनाश, तथा ४. विनाश का उपाय प्रायश्चित्त, जिसके प्रकार विविध हो सकते हैं ।

अहंकार ने मानव के स्वरूप पर ऐसा मोटा पदी डाल दिया कि वह अपने-आपको भूलकर औरों से बड़ा और ऊँचा मान बैठा और द्वेष और अमैत्री की दृमविना से स्वयं ही जलने लगा । गांधीजी की कृपा, भगवान् बुद्ध की ही भाँति, रोम-रोम से फूट पड़ी । उन्होंने देखा और विश्वास पाया कि अहंकार से उत्पन्न द्वेष की अग्नि को अवश्य बुझाया जा सकता है । उसकी सबसे भयंकर ज्वाला अस्पृश्यता के रूप में उन्हें दिखाई दी, जिसकी लपटों ने मैत्री को चारों ओर से घेर रखा था । उसके विनाश का अव्यर्थ उपाय गांधीजी के सामने प्रकट हुआ प्रायश्चित्त के रूप में । उनको इस बात का पक्का निश्चय हो गया कि अस्पृश्यता एक ऐसा महान् पाप है, जिसका क्षय केवल तप से हो सकता है ।

महर्षि अंगिरा ने 'प्रायश्चित्त' की व्याख्या इस प्रकार की है :

प्रायो नाम तपः प्रीकृतं चित्तं निश्चय उच्यते ।

तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥

'प्रायस्' शब्द का अर्थ तप है और 'चित्त' का अर्थ है निश्चय । 'प्रायश्चित्त' से आशय उस कृत्य से है, जिससे मनुष्य पाप से छुटकारा पा जाता है । जिस दिन गांधीजी ने यरवडा-जेल के अन्दर इस घोर पाप से हिन्दूधर्म को मुक्त करने के लिए प्रार्थनापूर्वक अनशन आरम्भ किया, उस दिन मानो सारे समाज को उन्होंने प्रायश्चित्त की दीक्षा दे

दी । तप की महिमा बखानते हुए गांधीजी कभी थके नहीं । ७ अप्रैल, १९३३ के हरिजन-सेवक में उन्होंने लिखा था :

‘मेरे लिए तो अस्पृश्यता का निवारण एक प्रायश्चित्त है । किसी-भी धर्म की अशुद्धि, बिना शुद्धि के, दूर नहीं हो सकती । अस्पृश्यता हिन्दूधर्म की सबसे बड़ी अशुद्धि है । उसे दूर करने के लिए हमारों हिन्दू अनशन करें, तोभी मैं उसे कोई बड़ी बात नहीं मानूंगा । बहुत सम्भव है कि इतनी आहुति भी उस महायज्ञ के लिए पर्याप्त न हो । शिवजी को पाने के लिए पार्वती ने कितने अनशन किये थे । जब-जब मनुष्य पर धर्म-संकट आया, तब-तब उसने भगवान् की आराधना अनशनादि तप से ही की है, और इसीसे उसके धर्म-संकट का निवारण हुआ है । तुलसीदासजी ने सत्य ही लिखा है :

तप-बल रचइ प्रपंच विधाता,
तप-बल विष्णु सकल जग-त्राता;
तप-बल शंभु करीहि संहारा,
तप-बल शेष धरहि महिभारा ।

अस्पृश्यतारूपी कलंक हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म पर से मिटा डालने के लिए गांधीजी ने एक बार यहाँ तक सोचा था कि आमरण अनशनों की एक श्रृंखला चलाई जाये । उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि अस्पृश्यता-निवारण का प्रमुख साधन तप ही है । तप का अर्थ है पाप का क्षय तथा पुण्य का संचय । इसके लिए स्वेच्छा से बड़े-से-बड़े कष्ट को न केवल सहन करना, बल्कि उसे इस प्रकार अंगीकार कर लेना कि वह महान् आनन्ददायक है । सत्य की खातिर ऐसा पावन तप प्रह्लाद, सुकरात, ईसा, दयानन्द और गांधी-सरीखे महात्माओं ने साधा । ठक्कर बापा ने भी कोई कम तप नहीं किया । समस्त प्रकटाने के लिए आज विनोबा भी अपनी अस्थियों को तिल-तिल गला रहा है ।

अस्पृश्यता-निवारण-कार्य गांधीजी के निरन्तर हृदय-मंथन तथा



सांत्विक तप का ही परिणाम है, यह हमें सदा ध्यान में रखना होगा । जिस किसीभी प्रवृत्ति के मूल में तप का रस पैठ जाता है, उसके फूलों से प्रेम और मैत्री की सुगन्ध दूर-दूर तक फैलती है, और उसके फलों में अमृत-ही-अमृत भरा रहता है । यह एक सच्ची कसौटी है । वैर को हटाने के लिए यदि वैर से ही काम लिया जाये, तो वैर कहीं हटने-वाला है ? वह तब दूसरे रूप में और उससे भी भयंकर रूप में अन्यत्र प्रकट हो जाता है । वैर को तो अवैर से ही, निष्काम मैत्री-भावना से ही, दूर किया जा सकता है —

“नहि वेरेन वेरानि संमंतीध कुदाचन; -
अवेरेन च संमंति एस धम्मो सनत्तनो ।”

अस्पृश्यता का अर्थ ‘स्पर्श-भावना’ से ही हो सकता है । - जिस मनुष्य को किसीभी रूप में अज्ञान और अहंकारवश हीन, छोटा और नीच मन से, वचन से, तथा व्यवहार-वर्ताव से मान लिया गया है, उसके अन्तर का स्पर्श सहज प्रेम एवं शुद्ध मैत्री भावना से करना ही स्पर्श-भावना है ।

प्रेम से, दलील से और कानून से भी विषमतापूर्ण व्यवहार करनेवालों को समझाकर व मनाकर अस्पृश्य कहे जानेवालों के लिए सार्वजनिक कुश्रों, भोजन-गृहों, धर्मशालाओं या मन्दिरों को खुलवा देना अस्पृश्यता का आंशिक निवारण है, सम्पूर्ण नहीं । केवल इतने मात्र से संतोष नहीं मान लेना चाहिए । सामाजिक नियोग्यताओं के निवारण का इस प्रकार का काम तभी स्थायी हो सकता है, जब प्रेम और दलील से समझाने के पीछे थोड़ी-बहुत तपःसाधना भी हो ।

अस्पृश्यता-निवारण के बाह्य अथवा भौतिक साधनों की सर्वथा उपेक्षा करने से यहाँ आशय नहीं है । तात्पर्य इतना ही है कि तपःसाधना से हटकर केवल बाह्य या भौतिक साधनों पर ही यदि आधार रखा गया, तो अस्पृश्यता का यथार्थ निवारण होनेवाला नहीं । एक जगह

से हटकर तब दूसरी जगह पर वह अपना अड्डा जमा लेगी । द्वेष-भावना का मात्र वह स्थानान्तर ही होगा ।

देखने में आता है कि कई रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं को भी अस्पृश्यता-निवारण की सही दिशा नहीं सूझ रही । कारण इसके हो सकते हैं गहराई में उतरकर चिंतन करने के प्रति उपेक्षा, तथा ऊपर-ऊपर से समस्याओं को छूकर आसान और सस्ते साधनों द्वारा उनका हल निकालने की दिन-दिन बढ़ती हुई मनोवृत्ति । कोई-कोई तो अस्पृश्यता-निवारण की ज़रूरत महसूस ही नहीं करते, और जो महसूस करते भी हैं, वे बहुत करके प्रश्न की असली तह तक नहीं पहुँचना चाहते । इसीलिए उनका आत्म-सन्तोष, और इनका असंतोष दोनों ही सही नहीं कहे जा सकते । इधर तरह-तरह के विचार सुनने में आते हैं, जैसे :

१. भारत के संविधान में अस्पृश्यता के लिए चूँकि कोई स्थान नहीं है, और अस्पृश्यता (अपराध) क़ानून भी पास हो गया है, इसलिए छुआछूत का प्रश्न ही आज नहीं रहा;

२. सर्वोदय का कार्यक्रम यदि हाथ में ले लिया जाये, तो अस्पृश्यता के प्रश्न पर अलग से विशेष ध्यान देने की ज़रूरत नहीं रह जाती;

३. अमुक प्रकार के भौतिक साधनों के द्वारा अमुक-हद तक अस्पृश्यता का निवारण हो गया है । यदि उन साधनों को और अधिक जुटा दिया जाये, तो अस्पृश्यता का निवारण और भी अधिक वेग से तथा व्यापक रूप में हो सकता है;

४. अनुसूचित जातियों का आर्थिक स्तर, उनको विशेष सुविधाएँ देकर, ऊँचा उठा दिया जाये, तो छुआछूत अपने-आप खत्म हो जायेगी ।

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ऊपर की ये चारों धारणाएँ सर्वथा गलत हैं ।

लोकमत ने जाहिर कर दिया है कि अस्पृश्यता चूँकि एक अपराध

है, इसलिए संविधान में उसके लिए कोई स्थान हो नहीं सकता। भारत-सरकार ने कानून भी बना दिया है। इसलिए जहाँ तक संविधान और कानून का सम्बन्ध है, अस्पृश्यता का प्रश्न खत्म हो गया है। किन्तु व्यवहार-वर्ताव में कहीं पर कम तो कहीं पर अधिक, कहीं एक रूप में तो कहीं दूसरे रूप में, अस्पृश्यता आज भी सुनी और देखी जाती है। अतः उसके निवारण के प्रश्न से इनकार नहीं किया जा सकता।

यह सही है कि सर्वोदय का कार्यक्रम बिचारपूर्वक, निष्ठापूर्वक हाथ में ले लिया जाये, तो अस्पृश्यता के प्रश्न पर अलग से विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु सर्वोदय के कोरे मंत्र-जाप-से काम नहीं बनेगा। सर्वोदय के मार्ग पर चलने के लिए तप का सम्बल भी साथ में कुछ लिया है या नहीं यह ऐसा प्रश्न है, जो अपने-आपसे पूछने का है।

बाहरी या भौतिक साधनों के द्वारा अस्पृश्यता के सिर्फ ऊपर के छिलके या पपड़ी को हटाया जा सकता है। उन साधनों के पीछे गंभीर चिन्तन और जीवन का कुछ तप हो, तभी इस महान् पाप का निर्मूलन किया जा सकता है। बिना इस अन्तःशक्ति के बाह्य साधनों का यन्त्र चल नहीं सकता है।

अनुसूचित जातियों का आर्थिक स्तर अवश्य ऊँचा उठना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण में उनकी आर्थिक उन्नति सहायक हो सकती है, मगर किसी हद तक ही ! अस्पृश्यता असल में एक सामाजिक बुराई है, धर्म के नाम पर चलाया हुआ एक अधर्म है। इस पाप का मूलीच्छेदन न तो करोड़ों-अरबों रुपयों से हो सकता है, और न राजसत्ता की तलवार से और न केवल कानून से ही।

फिर इस प्रश्न का सम्बन्ध केवल उन्हीं जातियों से नहीं, जिनको 'अनुसूचित' कहा जाता और अस्पृश्य माना जाता है, बल्कि उन जातियों और उन वर्गों से इसका अधिक सीधा सम्बन्ध है, जो अपने-आपको

स्पृश्य और उच्च मानकर इस पाप की जड़ में पानी देते आ रहे हैं। असल रोगग्रस्त तो वे हैं। अहंकार के कीटाणु उनके फेफड़ों को सड़ा रहे हैं। रोग उनका संक्रामक-बन चुका था। यही कारण है कि हिन्दू-समाज के हरेक भाग में तो अस्पृश्यता ने किसी-न-किसी रूप में प्रवेश पा ही लिया, किन्तु जिन्होंने उससे जान छुड़ाने के लिए धर्मान्तर कर लिया, उनका भी उसने पीछा नहीं छोड़ा। ऐसी भयंकर छूत की बीमारी है यह ! तब यह कैसे हो सकता है कि एक रोग-पीड़ित पर तो ध्यान दिया जाये, और दूसरे पर नहीं। उस रोगग्रस्त पर बल्कि ज्यादा और तत्काल ध्यान देने की जरूरत है, जिसकी हालत बहुत अधिक बिगड़ चुकी है।

जिसकी आँखें खुल चुकी हैं, इस घातक रोग को जिसने पहचान लिया है, वह पहले अपने-आपको स्वस्थ और शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त अर्थात् तप करे, और फिर दूसरों के संक्रामक रोग का उन्मूलन करने के लिए निकल पड़े। सर्वोदय की भावना से उसे सच्ची प्रेरणा मिलेगी। वह अकेला भी सैकड़ों-हजारों का काम पूरा कर सकेगा।

जिस किसीका भी गांधीजी के इस कथन पर पक्का विश्वास हो गया हो, कि 'अस्पृश्यता धर्म पर एक महान् कलंक है, - इसलिए उसके रहते धर्म जीवित नहीं रह सकता' वह विषमता की इस बुराई को मिटा डालने के लिए तप की जितनी भी पूंजी जुटा सके उसे साथ में लेकर समता-संस्थापना की यात्रा पर तत्काल निकल पड़े। दूसरों पर, चाहे वहे कोई संस्था हो या सरकार हो, अपनी जिम्मेदारी का भार डालने से काम नहीं चलेगा। एक-एक सवर्ण हिन्दू का यह अपना कर्तव्य और दायित्व है कि अस्पृश्यता अर्थात् हर प्रकार की विषमता को नष्ट करने के लिए वह सच्चे मन से प्रायश्चित्त करे। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ही नहीं।

महाविष यह कैसे नष्ट हो ?

विष दो प्रकार का है । एक तो तत्काल असर करनेवाला और दूसरा धीरे-धीरे प्राणशक्ति को क्षीण कर प्राणी को मृत्यु के हवाले कर देनेवाला । इस अर्थ में पहला यदि केवल विष है, तो दूसरा महाविष है । यह दीर्घकाल तक यातना देता रहता है ।

अस्पृश्यता को हम महाविष की कोटि में रख सकते हैं । हिन्दू-समाज की एक-एक रंग में पैठकर हजारों बरसों से यह उसकी जीवन-शक्ति को क्षीण करता आ रहा है । इसे नष्ट करने के उपाय भी सभी किये जा रहे हैं । पर इसका जोर कभी किसी अंग में कम, तो कभी किसी अंग में अधिक दिखाई दिया । जिस अंग को, उसमें बुरी तरह पैठकर, इसने छलनी-सा जीर्ण कर दिया है, वह है हिन्दू-समाज का हृदय । दिमाग में से इस विष को बहुत-कुछ उतारा भी जा सका है, परन्तु हृदय के एक-एक तन्तु में से इसे निकाल बाहर करना बहुत कठिन हो रहा है । कुछेक कुसंस्कारों के साथ-साथ यह घुलकर एकरूप हो गया है । अक्ल तो एक बार समझ भी जाती है, पर हृदय समझने पर भी नहीं मानता । आत्मा वृं कि एकही है, शरीर सबके एकही पंचभूतों के हैं, एकसमान रक्त, मांस, मज्जा और अस्थियों से निर्मित हैं, इसलिए स्वतः एक का दूसरे के साथ कुछभी भेद नहीं है, न कोई उच्च है, न कोई नीच । इस प्रकार के 'अभेद' को, समझाने पर, बुद्धि स्वीकार कर लेती है, और वेदान्त तो इसका साक्ष्य देता ही है । किन्तु अच्छे-बुरे संस्कारों से जकड़ा हुआ हृदय व्यावहारिक रूप में इस स्पष्ट सत्य को मानने के लिए तैयार नहीं होता । उल्टे, उसने कभी-कभी बुद्धि को

महाविष यह कैसे नष्ट हो ?

१२५

भी अपनी ओर खींचकर अस्पृश्यता के समर्थन में कुछ प्रमाणों को जिन्हें शास्त्र-प्रमाण कहा गया है, इकट्ठा कर लेने का प्रयत्न किया है। तथापि समय-समय पर मानव-बुद्धि ने हृदय की इस मजबूती के खिलाफ विद्रोह किया है। मगर इसका यह अर्थ न लगाया जाये, कि व्यक्ति या समाज का केवल हृदय ही महाविष को जीवित बनाये रखने का शत-प्रतिशत दोषी है। अनेक स्थानों और अनेक अवसरों पर इस महाविष को दूर करने के लिए हृदय भी वेचैन हुआ है। ऐसेभी अवसर आये हैं, जब हृदय की छटपटाहट पर चिकटे हुए पुराने संस्कारों ने विजय पायी है।

ऐसा है अस्पृश्यता का सहस्रों वर्ष पुराना यह महाविष। इसे समूल-नष्ट करने के लिए आज एकसाथ ही इसके बड़ें-बड़े किलों पर आक्रमण किया जा रहा है—राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक इन तीनों ही किलों पर। राजनैतिक किला या तो क़रीब-क़रीब सर कर लिया गया है, या कुछ ही बरसों में सर कर लिया जायेगा। पर इस मोर्चे की जड़ में एक भय छिपा हुआ दिखाई देता है। इस किले की दीवारें जो ढह चुकी हैं या ढह रही हैं—उनके पत्थरों और मलबे के नीचे छिपकर जा बैठने का प्रयत्न अस्पृश्यता कहीं-कहीं पर कर रही है। ऐसा दीखता है कि अपने मरण-स्थान को भी अपना शरण-स्थान बनाने का उसका यह बड़ा कौशलयुक्त प्रयत्न है। मधुर स्वर में मातो वह धीरे-धीरे कहती है, क्या हुआ, जो राजनैतिक अधिकारों के मोर्चे ने मेरे इस किले को ढहा दिया, मैं इन्हीं अस्त्रों से अपनी रक्षा फिर भी कर लूँगी? ऐसा कुछ-कुछ भय दीख रहा है।

राजनैतिक किले से भी मजबूत इसका सामाजिक किला है, और उससे भी कहीं अधिक मजबूत किला है धार्मिक। किले ये एक सीध में नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो तीनों को लक्ष्य बनाकर एकही साथ इन-पर गोलाबारी की जा सकती थी। जब पहले किले पर आक्रमण किया

गया, मतलब यह कि भारत के संविधान द्वारा अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया तथा अस्पृश्यता (अपराध) कानून बँव पास हुआ तब सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में बहुत मामूली-सी हलचल हुई। वे निश्चिन्त थे कि संविधान और कानून उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उनका मत है कि कुओं और देव-स्थानों को कानून ने अगर खुलवा भी दिया, तो वे अपने अन्तर के फाटकों को और भी दृढ़ता से बन्द कर लेंगे, और तब अछूत और उनके हिमायती तंग आकर अपना क्रदम पीछे हटा लेंगे।

मुश्किल से फतह किये जानेवाले अस्पृश्यता के गढ़ सामाजिक और धार्मिक ही हैं। धार्मिक किले पर, जो असल में अधार्मिक है पूरी शक्ति लगाकर अगर हमला बोल दिया जाये, तो अस्पृश्यता का महाविष अपने-आप जलकर खाक हो जायेगा। जिस-जिस भावना को और जिस-जिस प्रथा को धर्म का नाम देकर अस्पृश्यता के हालात का पोषण किया गया है, और जिनके समर्थन में पूर्वजन्म के कर्मों और ईश्वरतक को घसीटा गया है, उन भावनाओं और प्रथाओं को हिमालय की ऊँची-ऊँची चोटियों से घोषित किया जाये कि वे धार्मिक नहीं, अधार्मिक हैं और इसी जन्म में, इसी लोक में वे नरक में गिरानेवाली हैं।

महाविष यह कैसे नष्ट हो ?

१२७

लीक इतनी गहरी हो गई है कि—

गाड़ी के पहिये रास्ते पर चलते-चलते एक लीक बना लेते हैं, और उस लीक पर बेखटक पीछे आनेवाली गाड़ियाँ चलती रहती हैं। किन्तु बरसों से गाड़ियों के निरन्तर चलते-चलते वह लीक जब बहुत गहरी हो जाती है, तब उसपर चलना चाकों के हक में अच्छा नहीं होता। उस लीक में पहिये घँसने लगते हैं, और गति रुक जाती है।

इसी प्रकार, एक काल के अनन्तर यदि साधना के मूल में निरन्तर चिन्तन न रहा, तो वह प्रगति में उलटे बाधक भी बन जा सकती है। विशेष काल और विशेष परिस्थिति में चलते हुए हम अपनी जीवन-यात्रा की गाड़ी चलाने के लिए एक लीक बना लेते हैं और उसे पकड़कर एक समय तक आँख मूँदकर भी किसी मंजिल तक जा सकते हैं। पर यदि नया-नया चिन्तन न कर, परिवर्तित काल और परिस्थितियों का विचार न कर, उसी पुरानी लीक पर हम चलते रहेंगे, तो प्रगति के बजाय किसी दिन हमारी गति जड़ बनकर रुक भी जा सकती है। अर्थ इसका हुआ गहरी शोष और उसके साक्षात्कार के लिए सतत जागरण और निरन्तर चिन्तन।

अस्पृश्यता-निवारण को ही हम लेते हैं, जिसका आशय है उच्च-नीच-भेद-भावों का निर्मूलन। गांधीजी की अस्पृश्यता-निवारण की यही व्याख्या है। सैकड़ों बरस पहले एक सँकरे और गलत रास्ते पर समाज की रुढ़ि गाड़ी ने एक लीक बना ली थी। कुछ दिनों तक उस लीक पर गाड़ी चलती रही। उसपर बैठनेवालों को यह भान नहीं हुआ कि गाड़ी जिस रास्ते पर और जिस लीक पर चल रही है, वह सही नहीं है, खतरनाक

श्रेय

गांधी देख रहा है !

भी है। लोक छोड़कर पैदल चलनेवाले साधु-संतों ने समय-समय पर सुझाया कि गाड़ी गलत/रास्ते की गहरी लोक पर चल रही है। चेतावनी पर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया। गाड़ी पर बैठे-बैठे उनको हाथ जोड़कर केवल प्रणाम कर लिया गया। सीखभरी उनकी 'साखियाँ' और 'सबद' भी चलते-चलते सुन लिये, पर गाड़ी को उस लोक पर से नहीं उतारा, दूसरा कोई रास्ता नहीं पकड़ा। जब पहिये घँसने लगे और गाड़ी वहीं रुक गई तब कहीं चेत आया कि गाड़ी आगे तो जा ही नहीं सकती; रास्ता वह इतना ज़्यादा सँकरा है कि पहिले लोक-उस-पर बन नहीं सकता। काल काफ़ी आगे बढ़ चुका था। गाड़ी उसके बहुत पीछे रह गई थी। गाड़ी पर सवार कुछ यात्रियों ने जो अपने आपको पण्डित मानते थे, उस रास्ते का पुराना नक्शा खोला और अपनी पुरानी पोथियों में के प्रमाण भी पेश किये। रूढ़ियों का लँगड़ा समर्थन करने पर भी पहियों ने आगे बढ़ने से, सर्वनाश के गड्ढे में गिरने से, साफ इन्कार कर दिया।

यह रूपक अस्पृश्यता या उच्च-नीच की भेद-भावना माननेवालों पर लागू होता है। उसके निवारण पर भी न्यूनाधिक रूप में क्या इसी रूपक को नहीं घटाया जा सकता? अन्तर इतना है कि रास्ता उसका सही और बहुत चौड़ा है। वह गलत जगह नहीं ले जायेगा। किन्तु उस रास्ते पर अब नई लोक बनानी होगी, और यह ध्यान रखना होगा कि वह लोक भी आगे चलकर कहीं पहली लोक की तरह एक रूढ़ि का रूप न धारण करले।

अस्पृश्यता-निवारण के जिस कार्यक्रम को बीस-पच्चीस वर्ष पहले हमने बनाया था वही-का-वही आज बहुत काम नहीं दे रहा। उसी कार्यक्रम को, बिना उसमें कोई परिवर्तन किये, ज्यों-का-त्यों लिये बैठे रहेंगे, उसी पुरानी लोक पर वैसेही चलते या घिसटते रहेंगे; तो गलत अर्थ में अपना हम एक अलग ही पथ बना लेंगे, जिसके सहारें अभेद के गन्तव्य स्थान तक हम पहुँच नहीं सकेंगे।

लोक इतनी गहरी हो गई कि—

१२६

दुनिया के सभी धर्म-सम्प्रदायों ने अपने-अपने आरम्भ-काल में अभेद और समता का ही जयघोष किया था। किन्तु काल-प्रवाह के साथ-साथ न चलने से, नित्य चिन्तन के रुक जाने से, समस्त मानवजाति के प्रति अभेदात्मक समता की स्थापना के स्थान पर अपने ही धर्म और अपने ही सम्प्रदाय के अनुयायियों तक वह समता सिकुड़कर सीमित हो गई। उसे अलग-अलग चौखटों में जड़ दिया गया। चौखटा अर्थात् तंत्र। तंत्र अर्थात् क्रायदे-क्रानून या बाँधनेवाले नियम और विधान। तंत्र की लीक पर गाड़ी कुछ समयतक ही चल सकती है, हमेशा नहीं। जिन विभिन्न धर्मों ने साम्ययोग की साधना द्वारा आत्मदर्शन का लक्ष्य संसार के सामने रखा था, उनके अन्दर कर्मकाण्ड की निष्प्राण क्रियाएँ घुस गईं, और केवल वे क्रियाएँ ही उनमें शेष रह गईं। बाहरी क्रियाएँ भी घिस-पिसकर सिर्फ एक मिथ्या अभिमान अपने पीछे छोड़ती जा रही हैं। विवेकपूर्ण चिन्तन के न होने से तंत्र के चौखटे में बँधा हुआ कार्य-क्रम या कर्मकाण्ड आगे चलकर मिथ्याचार का रूप ले लेता है। नाम भले ही रह जाता हो, पर रूप सर्वथा बदल जाता है। अतः हमारे कार्यक्रम के रूप में अधिक-अधिक नवीनता और तेज आना चाहिए, नाम छूट भी जाये, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। मूल भावना, सत्य की नहीं छूटनी चाहिए।

यदि हमारी दृष्टि में समग्रता, नित्य चिन्तन और सतत जागरूकता नहीं रहेगी, तो सारी ही प्रवृत्तियों में जड़ता प्रवेश कर जा सकती है, और संकुचित होकर विचारशून्य बनकर गलत और उलटी दिशा में भी हम जा सकते हैं।



दूसरा कोई मार्ग नहीं

अस्पृश्यता का निवारण-कार्य सर्वोदय का एक मूलभूत अंग है। सबके उदय के लिए यदि प्रयत्न करना है, तो समाज में से विषमता का विष निकाले बिना चारा नहीं। यह एक निःसंशय सत्य है। इस सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये बिना गति ही नहीं। ज्ञानशून्य क्रिया कोरे कर्मकांड में परिणत हो जाती है, जो जड़ होता है। सर्वत्र सभी कालों में यही हुआ है। तब और भी अधिक विकृति आ जाती है, जब कर्मकाण्ड आर्थिक माधनों का सहारा लेकर खड़ा होना चाहता है। पुराकाल के यज्ञ इसके साक्षी हैं। यज्ञ का वह रूप समाज के हित में टिक नहीं सकता था। इसलिए उसके स्थान पर ज्ञान-यज्ञ को प्रतिष्ठा और श्रेष्ठता दी गई है।

अस्पृश्यता-निवारण यह एक निषेधात्मक कार्य है। साध्य तो समता की संस्थापना है, जिसतक व्यापक प्रेम के द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। इस लक्ष्यतक पहुँचने और इसे वेधने के लिए तप का प्रथम स्थान है। तभी उस मानस तथा उस हृदय का स्पर्श हम कर सकेंगे, जिसने भूल से और हठ से अथर्म को धर्म, अथवा असत्य को सत्य मान रखा है। देखना होगा कि पिछले वर्षों से जिस कार्यक्रम को हम अपनाये हुए हैं, उसमें परीक्षाओं का प्रवाह अवरुद्ध हो जाने से कहीं जड़ता तो नहीं आ गई है, और वह कहीं कोरा कर्मकाण्ड तो नहीं बनता जा रहा है। उस कार्यक्रम को तब कसौटी पर कसना होगा। रोग का जोर यदि कम नहीं हुआ या बहुत थोड़ा असर दवा का हुआ है, तो इलाज में हेरफेर करना ही होता है। देखा गया है कि कभी कीमती-से-कीमती दवा और उप-

चार का असर रोग पर बहुतही कम या बिल्कुल नहीं होता, जबकि पथ्य और परहेज रखकर निसर्गोपचार से रोगी स्वस्थ हो जाता है। क्रीमती दवाइयाँ रोग को कभी-कभी, अनजान में ही सही, लम्बा भी कर देती हैं, और उन दवाइयों को लेते-लेते रोगी को उनमें रस भी आने लगता है। उनमें हल्की-सी जो मादकता रहती है, उससे कुछ क्षणों के लिए वह भूल जाता है कि उसे कोई रोग है।

इसे हर किसी रचनात्मक कार्य पर घटाया जा सकता है। समाज के शरीर में पैठी हुई हरेक बुराई का, चाहे वह राजनैतिक हो या आर्थिक हो या धार्मिक-अन्त तभी किया जा सकता है, जब उसके उपायों और साधनों के पीछे सही-सही ज्ञान से निदान किया गया हो, और उसे दूर करने के लिए समय-समय पर उत्साहपूर्वक नये-नये प्रयोग किये गये हों। जिस प्रयोग और जिस उपाय को अबतक काम में लाया गया, वह बिल्कुल निष्फल नहीं गया, उसने भी अपना काम किया, पर उतना ही जितना कि स्थान और काल के अनुरूप उसके अन्दर बल था। पर उसीको सदा पकड़े रहना ठीक नहीं, इस बात का ध्यान रखना होगा। उसके विफल हो जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि श्रद्धा उसपर कम रही हो और ऊपर-ऊपर से ही उसे अपनाया गया हो। कुछभी हो, उस प्रयोग और उस उपाय में परिवर्तन न करना रचनात्मक कार्यक्रम के हित में अच्छा नहीं। कार्यक्रम में जड़ता और सड़न न आ जाये, इसका पहले से ध्यान रखना होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि किसीभी रचनात्मक कार्यक्रम में तभी हाथ लगाया जाये, जब उसका सही-सही ज्ञान हो, अथवा उसे प्राप्त करने की पूरी तैयारी हो, समय-समय पर उसका सिंहावलोकन किया जाये और विफलताओं पर पैर रखते हुए उत्साहपूर्वक आगे बढ़ने का दिल में साहस हो। हमेशा इस बात का ध्यान रखा जाये कि अमुक विधि से निर्जीव कर्मकाण्ड की तरह यदि कोई कार्यक्रम श्रद्धापूर्वक पूरा करा लिया या उसका अगुष्ठान दूसरों के

हाथ से करा लिया, तो उससे फल-लाभ होने का नहीं । यह स्पष्ट है कि लुभावनी फलश्रुतियों से कभी काम नहीं चला । सही ज्ञान से, सही दृष्टि से, सही निष्ठा से और सही क्रिया से ही असत्य का निवारण और सत्य का साक्षात्कार होता है । अस्पृश्यता या विषमता का उन्मूलन एवं समता अर्थात् सर्वोदय की संस्थापना के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं ।

आरम्भ 'अन्त्योदय' से

सबकी सेवा में एक की भी सेवा नहीं छूटती है, सबके हित-संपादन में एक का भी अहित नहीं होता है, ऐसा विचार हम करते हैं तो इसमें कोई असंगति नहीं दीखती है। सर्वोदय की भावना के मूल में हम जायेंगे तो एक-एक की अलग-अलग सेवा या अलग-अलग हित करने की भावना पर दृष्टि का न जाना जान-मानकर भूल करना नहीं कहा जा सकता। पर कभी-कभी अनजान-में सर्व-सेवा करते हुए या उसपर दृष्टि रखते हुए हम किसी ऐसे 'एक' को छोड़ देते हैं, जो शायद 'सबसे प्रथम सेव्य' कहा जा सकता है, और जिसकी गणना सबके अन्त में आती है। तब क्या यह विचारणीय नहीं है कि सर्व-सेवा और सर्व-हित की भावना पर दृष्टि रखते हुए सर्वोदय का आरम्भ 'अन्त्योदय' से किया जाये ?

हम एक 'प्रसिद्ध' कन्या गुरुकुल देखने गये थे। हमने पूछा कि 'इस गुरुकुल के छात्रावास में कितनी हरिजन लड़कियाँ रहती हैं ?' जवाब मिला 'हमारे यहाँ जाति-पाँति के आधार पर किसी लड़की को छात्रावास में प्रविष्ट नहीं किया जाता; न हम कभी किसीकी जाति पूछते हैं।' हमने कहा, 'यह ठीक है। किसी लड़की से उसकी जाति पूछने की आवश्यकता नहीं। परन्तु अपनी खुद की जानकारी के लिए इतना तो मालूम रहना चाहिए कि गुरुकुल में आने से पहले वह किस तथा-कथित जाति से सम्बन्ध रखती थी।' फिरभी वही उत्तर मिला। पर उससे जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। बाद में एक प्राध्यापक महोदय ने बतलाया कि एकभी हरिजन कन्या उनके छात्रावास में नहीं है।

यह बात नहीं कि जान-बूझकर किसी हरिजन लड़की को छात्रावास

जें प्रविष्ट नहीं किया गया था । यदि कोई ऐसी लड़की आती, तो वहभी दूसरी लड़कियों की भाँति छात्रावास में दाखिल हो सकती थी । मगर अन्य लड़कियों की भाँति ही हरिजन लड़कियाँ भी प्रविष्ट होने के लिए आयें, यह विचार करने की बात है । अस्पृश्यता के कारण उनका व उनके माँ-बाप का साहस नहीं होता । अतः सबके लिए 'समभाव' रखते हुए भी इस प्रकार के 'एक' पर विशिष्ट और सबसे पहले ध्यान देना होगा, नहीं तो बहुत सम्भव है कि हमारे 'सर्व' में से एक ऐसा 'एक' छूट जाये ।

राजसूय-यज्ञ युधिष्ठिर ने किया, भोजन करने के लिए उन्होंने सबको निमन्त्रण दिया । यज्ञ-मंडप के मध्य में एक शंख रख दिया गया । विश्वास किया गया था कि शंख-ध्वनि अपने-आप होने पर समझा जायेगा कि यज्ञोत्तर महाभोज में कोई त्रुटि नहीं रही । परन्तु बड़ी देर-तक प्रतीक्षा करने पर भी शंख-ध्वनि स्वतः नहीं हुई । तब युधिष्ठिर को चिन्ता हुई कि उनके आमंत्रितों में कोई छूट तो नहीं गया है । ध्यान में आ गया कि हाँ, एक श्वपच का नाम भूल से छूट गया है । द्रौपदी-सहित महाराजा युधिष्ठिर उसकी कुटिया पर पहुँचे, और उसे सादर साथ ले आकर भोजन पर बिठाया । पंक्ति में उसके बैठते ही शंख-ध्वनि हुई । अज्ञान में ही यह भूल हुई थी । युधिष्ठिर के मन-में तो सबके प्रति समभाव ही रहा-होगा ।

दृष्टि समग्र क्यों ?

प्रश्न किया जाता है कि अमुक रचनात्मक कार्य करते समय, 'समग्र' दृष्टि का रखना क्यों आवश्यक है। क्या खादी-कार्य बगैर अस्पृश्यता-निवारण-कार्य के प्रति श्रद्धा रखकर, नहीं किया जा सकता ? हरिजन-सेवा क्या खादी एवं ग्रामोद्योगों के प्रति निष्ठा न रखकर, अधूरी हो रहेगी ? कोई भी रचनात्मक कार्य, बगैर सर्वोदयी दृष्टि के, सिद्ध हो नहीं सकता क्या ? और, क्या सर्वोदय की साधना में एक या दूसरी रचनात्मक प्रवृत्ति का ज्ञान तथा उसपर श्रद्धा रखना आवश्यक है ? साधारण तौर से देखा जाये, तो सीधी बात तो यह है कि अमुक रचनात्मक कार्य को यदि हाथ में लिया है, तो केवल उसीपर दृष्टि रहनी चाहिए। दूसरी प्रवृत्तियों पर ध्यान एवं निष्ठा रखने की फुरसत ही कहाँ रहेगी ? पर बात असल में ऐसी है नहीं।

प्रायः कहा और सुना जाता है कि खादी व दूसरे ग्रामोद्योगों तथा सर्वोदयी प्रवृत्तियों पर बगैर ध्यान देकर अस्पृश्यता-निवारण आसानी से किया जा सकता है। मगर ज़रा गहराई में उतरकर देखा जाये तो बात ऐसी नहीं है। अस्पृश्यता-निवारण का सम्बन्ध इन सभी प्रवृत्तियों के साथ, और इसी प्रकार सारे रचनात्मक कार्यों का सम्बन्ध अस्पृश्यता-निवारण के साथ स्वभावतः जुड़ा हुआ है। एक कार्य को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यदि अलग करते हैं, तो उस प्रवृत्ति की अपनी मूल भावना नष्ट हो जाती है। सारी ही रचनात्मक प्रवृत्तियों के मूल में एक ही भावना काम करती है। वह है 'विषमता का निवारण' और उसके फलस्वरूप 'समता की संस्थापना'। आर्थिक दृष्टि से वर्ग-भेद का निराकरण

करके समाज में व्याप्त हर प्रकार के शोषण का अन्त करना तथा उच्च-नीच के भेद-भाव का मिटाना ही खादी व दूसरे ग्रामोद्योगों का मूल उद्देश है। समाज के टुकड़े करके जिस मौजूदा शिक्षा-प्रणाली ने देश को भारी क्षति पहुँचाई, उसके स्थान पर बुनियादी शिक्षा को गांधीजी इसी-लिए लाये थे कि ज्ञान के पवित्र क्षेत्र में किसी भी प्रकार की विषमता के लिए स्थान न रहे। जिन स्कूलों के साथ 'पब्लिक' विशेषण जुड़ा हुआ है, उनका 'पब्लिक' याने जनता के साथ कितना क्या संबंध है? इन स्कूलों की खर्चीली शिक्षा-पद्धति ने शिक्षितों का एक ऐसा वर्ग पैदा कर दिया है, जो आम जनता से अपने विचार और व्यवहार से दूर रहना ही पसन्द करता है। तब, समाज में फैली हुई विषमता का निवारण एक बुनियादी शिक्षा कर सकती है, और अस्पृश्यता-निवारण में वही सीधी मदद दे सकती है। भूदान-प्रवृत्ति का तो जन्म ही हरिजनों के हित में से हुआ है। केवल हरिजनों और आदिवासियों के हित की बात आगे रखकर बाक़ी जनता के हित की हम उपेक्षा करें, तो अपने उद्देश में बहुत सफल नहीं हो सकेंगे। पर इस बात को न भुलाया जाये कि सबका हित या कल्याण साधते हुए हरिजनों एवं आदिवासियों के हित को आगे रखा जाये, क्योंकि वे सैकड़ों वर्षों से सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाओं से बहुत पिछड़े और वंचित रहे हैं।

पर यदि खादी ग्रामोद्योगों की प्रवृत्तियों में ऊँच-नीच की तथा शुआद्ध की भावना व्यवहार-वर्ताव में दिखाई दे, तो सच्चे अर्थ में वह न तो खादी की प्रवृत्ति है और न ग्रामोद्योगों की, भले ही सरकारी अनुदानों से उनका फैलाव बहुत बढ़ गया हो। समस्त रचनात्मक प्रवृत्तियों का सहयोग न लेकर प्रेमपूर्ण समता-संस्थापना की मूल-भावना को यदि अस्पृश्यता-निवारण की प्रवृत्ति छोड़ देती है, तो उसका भी प्रायः निश्चितमूलक वास्तविक अर्थ उसी समय खत्म हो जाता है।

'हरिजन' आदि साप्ताहिक पत्रों में गांधीजी जब हरिजन-प्रवृत्ति के

अलावा अनेक विषयों के लेख और टिप्पणियाँ—राजनैतिक भी देने लगे, तब कई हरिजन-सेवकों को इसपर आश्चर्य हुआ था और कुछ ने तो शिकायत भी की थी। पर असल में तो गांधीजी ने ऐसा करके हरिजन-प्रवृत्ति को अधिक एवं व्यापक महत्त्व दिया था। उन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से दिखा दिया था कि हरिजन-कार्य के साथ सारी ही रचनात्मक तथा राजनैतिक प्रवृत्तियों का भी सम्बन्ध है। जो भी प्रवृत्ति और जो भी विषय हमारे अपने इष्ट-साधन में योग देता हो, वह सदा स्वागत योग्य है।

इस प्रसंग में भक्ति-पक्ष का एक उदाहरण है। तुलसीदासजी ने 'विनय-पत्रिका' में गणेश, शिव, काली, हनुमान, गंगा, यमुना आदि अनेक देवी-देवताओं की स्तुति की है। परन्तु प्रत्येक स्तुति के अन्त में उन्होंने सबसे याचना की है एक 'राम-भक्ति' की ही। समस्त देवी-देवताओं को तुलसीदास ने राम के ही विविध रूपों में देखा, और अपनी अनन्यता को ज्यों-का-त्यों कायम रखा। क्या हम इसी प्रकार सारी ही रचनात्मक प्रवृत्तियों पर श्रद्धा रखकर उनसे अस्पृश्यता-निवारण में योग नहीं ले सकते और उन्हें भी अपना योग नहीं दे सकते ?

दृष्टि एकाग्र हो

गांधीजी के ऐतिहासिक बंबई-उपवास के परिणामस्वरूप सन् १९३२ में उन्हींकी प्रेरणा से हरिजन-सेवक-संघ का निर्माण हुआ था। ठक्कर बापा तथा उनके अनेक सेवा-निष्ठ सहकर्मियों ने इस काम को आगे बढ़ाया व फैलाया। यश भी इसे मिला। तथापि लक्ष्य इसका अब भी दूर है। भौतिक साधन तबसे अब कहीं अधिक सुलभ हो गये हैं, पर तब का वह आत्मबल आज क्षीण हुआ दीखता है। ऐसा क्यों? कहा जाता है कि आज न तो हमारे बीच में गांधीजी हैं, और न ठक्कर-बापा। तब कार्य को प्रेरणा दे तो कौन दे? यह भी कोई खास दलील नहीं कि नये-नये जैसे चाहिए, वैसे कार्यकर्त्ता मिल नहीं रहे हैं, तब काम को कैसे बढ़ाया और फैलाया जाये। गांधीजी और ठक्कर बापा के शरीर नहीं रहे। किसीका भी शरीर सदा नहीं रहता। पर उनकी तथा उनके पहले के अनेक साधु-सन्तों और समाज-संशोधकों की दी हुई प्रेरणा तो सामने है ही। बात असल में यह है कि यदि हम स्वयं-प्रेरित नहीं होंगे, तो पर-प्रेरणा कितनी ही बलवती हो उससे कदापि काम नहीं चलेगा। यह भी चिन्ता क्यों की जाये कि जैसे चाहिए वैसे कार्यकर्त्ता पर्याप्त संख्या में नहीं मिल रहे हैं, और यदि मिलते भी हैं, तो उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पैसा कहाँ है। पैसा तो सरकार से मिल सकता है, क्योंकि उसे भी जल्दी पड़ी है कि पैसा चाहे जितना अधिक खर्च हो जाये अस्पृश्यता तो एक नियत अवधि के अन्दर खत्म हो ही जानी चाहिए, और इसके लिए एक अच्छी नाप-तोल के साथ योजना-बना ली जाये। सरकार इससे अधिक और कर ही क्या संकती है? किन्तु

अस्पृश्यता-उन्मूलन के लिए केवल भौतिक साधन काफ़ी हैं क्या ?

संघ कोई भी हो, वह अपने तन्त्र से बँधा होता है । एक हृदयक उसका विकास कर चुकने के बाद, और उसके उद्देश को कुछ आगे बढ़ाकर कभी-कभी देखा गया है कि पुरानी लकीर उसे और आगे नहीं बढ़ने देती । काल कितना आगे बढ़ गया है इसपर भी ध्यान नहीं जाता है । जो कपड़ा वचन में सिलाया गया था वही बड़ी उम्र के बदन पर कैसे 'फिट' होगा यह समझते हुए भी उसीको पहनने का प्रयत्न किया जाये, तो इसे क्या कहा जायेगा !

कार्यक्रमों और उनके साधनों में परिवर्तन करने ही होंगे । नहीं करेंगे, तो प्रकृति बैसा कराकर छोड़ेगी । अर्थ इसका यह हुआ कि लक्ष्य का जब एक बार सही ज्ञान हो गया, अब अर्जुन की तरह दृष्टि को एकाग्र करके अनन्य चित्त से केवल उसीको देखना होगा । दृष्टि उस समय न तो इस बात पर जायेगी कि साथी कितने और कैसे हैं, और न इसीपर कि बजट में कितना रुपया है कि जिसके बलपर अस्पृश्यता-निवारण-कार्य को कहीं तक बढ़ाया या फैलाया जा सकता है । रुपये में तो ताकत सिर्फ खरीदने की होती है । वह ताकत वह कहीं से लायेगा, जिससे आत्मा की शुद्धि होती है, और जिससे अन्दर का तेजस् और वीर्य बढ़ता है ?

एक अकेला भी लक्ष्य को वेध सकता है और सैकड़ों-हजारों के भी-निशाने चूक जा सकते हैं । इसलिए असल में तो संघ के अन्दर और संघ के बाहर देखना यह है कि हममें से ऐसे कितने हैं, जो अकेले ही आगे बढ़कर लक्ष्य-वेध करने के लिए तैयार हों । वे ऐसे अकेले एक-एक इस बात की चिन्ता नहीं करेंगे, चिन्ता करने की उन्हें फुरसत भी नहीं होगी कि उनके साथ या पीछे-पीछे कोई चल रहा है या नहीं, और न उन्हें कागज़ी योजना तैयार करते रहने की और न अनुदान प्राप्त करने के लिए सरकार के इस या उस दफ्तर तक दौड़ लगाने की ही जरूरत

होगी । क्या हममें से ऐसे कड़ियों की वह गति नहीं हो रही है कि, 'आये थे हरि-भजन को, ओटन लगे कपास ?' कहीं ये भौतिक साधन ही साध्य न बन जायें यह शंका भी कभी-कभी मन में उठती है । इसलिए असल में मानवीय समता के लक्ष्य को वेधने के लिए तीव्र व्याकुलता तथैव तत्परता महसूस करने की आवश्यकता है । आन्तरिक साधन-सम्पत्ति यदि पास में नहीं होगी, तो बाहर के तमाम भौतिक साधन कुछ भी काम नहीं दे सकते; इतना ही नहीं, वे नये-नये भगड़े-भंगट पैदाकर दूसरे रूपों में विषमता को बढ़ा भी सकते हैं । अतः यह काम उतना संस्था पर नहीं, जितना अन्दर की शुद्धि पर निर्भर करता है ।

चृष्टि एकाग्र हो

सेवा निष्काम-

लोक-सेवा को भारत की संस्कृति में धर्म की मंगल-साधना के रूप में ही सदा से ग्रहण किया गया है। सेवा-धर्म 'परमगहन' तथा योगियों के लिए भी 'अगम्य' कहा गया है। तथापि सेवा-धर्म ऐसा नहीं है, कि उसकी परमगहनता से डरकर कोई उसकी साधना करे ही नहीं। यह धर्म-साधना जहाँ महाकठिन है, तहाँ सरल और अतिमधुर भी है। साधक के मन में यदि फल का लोभ या पुरस्कार की कामना होगी, तो उसकी साधना हजार प्रयत्न करने पर भी मलिन ही रहेगी, और जिनकी वह सेवा करेगा, उनके भी हृदय में उसके प्रति शंका बनी रहेगी, और इसलिए किसी दिन सेवा पर से उसका अपना विश्वास भी डिग जायेगा।

ऊपर की विचार-भूमिका यह सोचने को बाध्य करती है कि हरि-जन-सेवा अथवा अस्पृश्यता-निवारण की प्रवृत्ति जिस गति और जिस व्यापकता से आगे बढ़नी चाहिए थी, वैसी क्यों नहीं बढ़ रही है। जरा गहरे उत्तरकर देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे मन में कभी स्थूल तो कभी सूक्ष्म किसी-न-किसी पुरस्कार की इच्छा औस्तृष्णा काम कर रही है। कभी-कभी तो बहुत भद्दे ढंग से यहाँ तक सुनने में आता है कि, "हमने इन लोगों की बरसों सेवा की तन से, मन से और धन से, पर गत चुनावों में इन्हीं लोगों ने हमारे खिलाफ़ वोट दिये।" और कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि, "इन लोगों को हमने ऊपर उठाया, तो क्या आज ये हमारे सिर पर चढ़ बैठेंगे?" इस प्रकार की भावनाएँ राजनैतिक कार्यकर्ताओं के मन में ही नहीं, कुछ समाज-सेवकों के भी मन में समय-समय पर उभरती रहती हैं। सकाम सेवा का स्वा-

भाँविक परिणाम है, यह । सकाम जन-सेवा अहंकार को उलटें उत्तेजन देकर बढ़ा देती है, जिससे श्रद्धा एवं निष्ठा विनष्ट हो जाती है ।

सत्तामूलक राजनीति लोक-सेवा, और विशेषतः हरिजन-सेवा के मार्ग में सबसे खतरनाक बाधा है । यह अपने ही प्रभु-धर्म पर अपना स्वामित्व जमाने का दुष्ट प्रयत्न करती है । लोक-सेवक गांधीजी की इस सूचित को भूल जाते हैं कि 'राजनीति तो धर्म की दासी है ।' यही कारण है कि जबतक उनको सकाम, सेवा से कुछ लाभ होता रहता है तबतक वे और अधिक फल-लाभ की आशा से, सही या गलत ढंग से, सेवा-कार्य करते रहते हैं । पर-जहाँ उन्होंने देखा कि उनकी सारी सेवा निष्फल हो गई, उसी क्षण वे निराश होकर, बल्कि रुष्ट होकर जन-सेवा से मुँह मोड़ लेते हैं, और अपनी लम्बी सेवा का बेखान और सेव्यों की कृतघ्नता की शिकायत करने लगते हैं ।

गांधीजी ने हरिजन-सेवा की प्रवृत्ति को बहुत स्पष्ट कर दिया था इस एकही वाक्य द्वारा :

“अस्पृश्यता हमारे धर्म पर एक भारी कलंक है, उसे मिटाने के लिए हमें प्रायश्चित्त करना है ।”

प्रायश्चित्त की शुद्ध भावना से यदि अस्पृश्यता का पाप अपने हृदय से धो डालना है, और जिनको हमने सैकड़ों वरसों दबा रखा था, उनकी सेवा करते हुए हमें अपने आपका उद्धार करना है, तब फिर सेवक किससे किस फल या पुरस्कार पाने की इच्छा और आशा करें ? यह तो हमारे अपने मलिन अन्तःकरण को प्रायश्चित्त की आग में तपाकर शुद्ध करने की धर्म-साधना है । कृपाकर विशुद्ध दूध में किसी भी प्रकार की कामना का संखिया न मिलाया जायें ।

प्रश्न ये कोई नये नहीं

प्रायः ये दो प्रश्न पूछे जाते हैं—

(१) जबकि अस्पृश्यता का जोर अब बहुत कम हो गया है, पहले-की जैसी स्थिति शायद ही कहीं देखने में आती है, या कहना चाहिए कि वह आखिरी साँस भर रही है, तब उसी अस्पृश्यता-निवारण के पुराने कार्यक्रम को आप लोग क्यों पकड़कर बैठे हैं अस्पृश्यता का नाम ले-लेकर भूली हुई बातों की याद दिलाने या गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ ?

(२) ऐसा कोई नया कार्यक्रम आप लोग क्यों हाथ में नहीं लेते, जो नौजवानों को भी खींच सके ?

ऐसे प्रश्नों में कोई नयापन नहीं दीख रहा । पिछले कितनेही बरसों से इन प्रश्नों को बार-बार जहाँ-तहाँ दोहराया जाता है । लगता है कि अस्पृश्यता की व्यापकता और उसकी गहराई से शायद यथार्थ परिचय न होने के कारण ऐसे-ऐसे प्रश्न उठाये जाते हैं ।

हम जानते हैं कि अस्पृश्यता की उग्रता में फर्क पड़ा है । काल के प्रवाह से भी ऐसा हुआ है । जैसे, बेशक अस्पृश्यता की जड़ें हिल गई हैं; पर वे उखड़ी नहीं हैं, जमीन को पकड़े हुए हैं । ऊपर-ऊपर से देख और सुनकर यह मत बना लिया गया है कि अस्पृश्यता बहुत हद-तक दूर हो गई है, शहरों में तो वह बिल्कुल नष्ट हो गई है, और ग्रामों में भी वह दम तोड़ती हुई ही देखने में आती है । पर हकीकत इससे बहुत-कुछ भिन्न है ।

सही है कि शहरों में प्रायः पूछा नहीं जाता कि अमुक आदमी किस जाति का है, और तब तो और भी पूछताछ नहीं की जाती, जबकि

उसके वदन पर साफ़ और अच्छे कपड़े होते हैं। मगर यह मालूम हो जाने पर कि वह अमुक अनुसूचित जाति का है, उसके साथ एक या दूसरे रूप में अस्पृश्यता का बर्ताव किया जाता है। अधिकांश राज्यों के बहुत सारे ग्रामों में हरिजनों की सार्वजनिक कुओं पर बराबरी से पानी नहीं भरने दिया जाता, और मंदिरों में उन्हें देव-दर्शनार्थ नहीं जाने दिया जाता है। कुओं के बारे में पूछताछ करने पर बताया जाता है कि, चूंकि उनकी बस्तियों में उनके अपने कुएँ होते हैं, इसलिए दूसरे कुओं के उपयोग करने की उनको कोई आवश्यकता नहीं, और सार्वजनिक कुओं पर भी वे पानी भर सकते हैं, भरते भी हैं—हाँ, स्वर्ण और हरिजन एकसाथ एकही समय में नहीं भरते, और यह कोई भेद-भरे बर्ताव की बात नहीं है। किन्तु हम इसे भेदभरा बर्ताव मानते हैं।

असल में बात यह है कि जितना कुछ भेदभाव का बर्ताव किसी-न-किसी कारण से कम हुआ है, उसे बहुत बड़ा परिवर्तन मान लिया गया है और संक्षेप कर लिया गया है कि अस्पृश्यता-निवारण की दिशा में अब ऐसा कुछ खास करने को नहीं रह गया। यह भारी भ्रम है। इसका निवारण समय रहते होना ही चाहिए।

कार्यक्रम, जैसा कि सोचा जाता है, घिसा-पिसा नहीं है। समय की गति के साथ-साथ उसमें आवश्यक परिवर्तन हुआ है, किन्तु मूलतः नहीं। हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं, जब हमारे कार्यक्रम में आमूल परिवर्तन ही नहीं, बल्कि उसका आमूल अन्त हो जाये। अस्पृश्यता का अन्त हो जाने पर कार्यक्रम की या उसमें किये गये परिवर्तनों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। गांधीजी से बार-बार पूछा जाता था कि देश के सामने वे कोई नया कार्यक्रम क्यों नहीं रख रहे हैं। जवाब में वे अपना रचनात्मक कार्यक्रम ही पूछनेवालों को बताते थे, और पुनरुत्थितियों से कभी डरते नहीं थे।

अस्पृश्यता-निवारण के कार्यक्रम में अवश्य समय-समय पर गांधीजी ने

संशोधन और परिवर्तन किये थे। बहुत पहले वे रोटी-बेटी-व्यवहार की बात नहीं करते थे। पर बाद में उनका यह विचार नहीं रहा किन्तु कार्यक्रम के मुख्यतम अंग प्रायश्चित्त को कैसे बदला जा सकता था ? प्रायश्चित्त का अर्थ है जान में या अनजान में भी अपनी गलती को स्वीकार कर लेना, उस गलती को मिटाने का पूरा प्रयत्न करना, प्रयत्न करते हुए जोभी कष्ट सामने आये उसे स्वेच्छा से और प्रसन्नता से सहन करना ।

एक यह भी मत है कि अनुसूचित जातियों का आर्थिक उत्थान होने से अस्पृश्यता तो अपने-आप नष्ट हो जायेगी। यह अभिप्राय एक हृदयक सही माना जा सकता है। सुशिक्षित व समुन्नत हरिजन के साथ भी, उसके ऊँचे पद पर से हट जाने पर, अस्पृश्यता का वर्तव देखने में आया है। इससे जाहिर है कि अस्पृश्यता का मूलकारण जितना धार्मिक-भ्रातियों से समर्थित सामाजिक है, उतना आर्थिक नहीं। मतलब यह कि गांधीजी ने जिस मूल को पकड़कर अस्पृश्यता-निवारण के कार्यक्रम में प्रायश्चित्त को प्रमुखता दी थी, उसमें परिवर्तन करना अनावश्यक है। असल में बात यह है कि प्रायश्चित्त की मूल भावना को हृदयंगम करनेवाले कार्यकर्त्ता पर्याप्त नहीं मिल रहे हैं। फिर त्याग का मार्ग बड़ा कठिन है, काँटों से भरा हुआ है। शायद इसीलिए उस मार्ग पर चलने से घबराकर कार्यक्रम को बदलने की सलाह दी जाती है। कार्यक्रम में नई-नई बातें जोड़ी जा सकती हैं और जोड़ी गई हैं, जैसे भंगी-कष्ट-मुक्ति और उसके बाद भंगी-मुक्ति। इसी प्रकार मद्यनिषेध को शामिल किया गया है। पद-यात्राओं को महत्व दिया गया है। खेती-बाड़ी के लिए ज़मीन के साधन दिलाने का काम भी हाथ में लिया गया है वगैरह, वगैरह। पर इस तथ्य को सामने रखकर कि अस्पृश्यता आजभी, दुर्बल रूप में ही सही, मौजूद है, हम अपने हृदय में तीव्र वेदना का अनुभव करके ही प्रायश्चित्त के द्वारा उसका अन्त कर सकते हैं।

आजका ही युग नहीं, कोई भी युग ही, वह नौजवानों को ही होता है। जो बूढ़े हो जाते हैं, उनकी दृष्टि कमजोर पड़ जाने से असलीयत को देख नहीं पाती। नौजवानों की दृष्टि पैनी होती है, साफ़ होती है और असलीयत को वह फौरन देखकर पकड़ लेती है। यह कौन नहीं चाहेगा कि वे अस्पृश्यता की भेदभरी भावना को साफ़-साफ़ देखें और गहराई में उतरकर उसे जल्द-से-जल्द खत्म करने के लिए तैयार हो जायें। पर वे अपने निजी अनुभव पर से देखेंगे कि अस्पृश्यता-निवारण के कार्यक्रम में किसी मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है असल में सच्ची लगनवाले, तीव्र वेदनावाले-कार्यकर्त्ताओं की। ऐसे नौजवान कार्यकर्त्ता तो निश्चय ही सोने में सुगन्ध का काम देंगे।



प्रश्न ये कोई नये नहीं